

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक संपादक

प्रो. गिरीश्वर मिश्र

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित विश्वास



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 43 (अक्टूबर-दिसंबर- 2014) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटेर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

email : ruchikaprinters 2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक	
हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी	4
वैचारिकी	
उपभोक्तावाद के बढ़ते कदम/गिरीश मिश्र	6
रैनेसाँ/प्रियंवद	14
विवेकानंद और गांधी : अध्यात्म व राजनीति का विरल संयोग/मनोज कुमार राय	26
स्मरण : यू.आर. अनंतमूर्ति	
भारतीयता के सच की खोज में मग्न कथाकार/ए. अरविंदाक्षन	32
व्याख्यान	
कबीर : कल, आज और कल/गोपेश्वर सिंह	36
उपन्यास अंश	
डमरू का दर्द/भगवानदास मोरवाल	45
देशांतर	
एकाकी/गी.द. मोपासां	55
दीवार में दरवाजा/एच.जी. वेल्स	59
कविताएं	73
सागर में त्रिलोचन : 'डायरी' से कुछ कविताएं/श्याम कश्यप	
शलभ श्रीराम सिंह	
पवन करण	
शैलेय	
रमेश प्रजापति	
संस्मरण	
भाऊ समर्थ : एक जिद्दी चित्रकार/प्रकाश मनु	102
यात्रा वृत्तांत	
वाह अंबरसर! वाह-वाह वाघा!!/रूप सिंह चंदेल	115
संवाद : विजय मोहन सिंह से कृष्ण कुमार सिंह की बातचीत	
रचना अपनी कसौटी खुद निर्धारित करती है	121
आलोचना : अरुण कमल की कविताएं	
इतिहास, यथार्थ और आकांक्षा का समाहार/अमिताभ राय	132
भाषांतर साहित्य	
पंजाबी साहित्य में महात्मा गांधी/जसविंदर कौर बिंद्रा	143
मीडिया	
हिंदी पत्रकारिता को सींचनेवाले बांग्लाभाषी मनीषी/कृपाशंकर चौबे	148

आरंभिक

हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी

एक बार फिर हिंदी दिवस आया और हमने पितरों की भांति उसका तर्पण कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली। प्रख्यात साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कहा था 'निज भाषा उन्नति अहै सब भाषा को मूल। बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को शूल।' हर वर्ष जब भी हिंदी दिवस आने को होता है हम कुछेक आयोजन कर कुछ चर्चा कर आत्मसंतोष कर लेते हैं। एक सवाल जरूर कुरेदता है कि भारत की संपर्क भाषा हिंदी को बोलने और चाहने वालों की संख्या चाहे करोड़ों में क्यों न हो, वह विश्व भर में हिंदी प्रेमियों की भाषा क्यों न हो लेकिन सच्चाई ठीक इसके उलट है कि हिंदी आज भी ज्ञान-विज्ञान, प्रशासन और विमर्श की भाषा का स्थान नहीं ले सकी है। हिंदी की यह स्थिति कहीं न कहीं यह भी इशारा करती है कि आज भी दुश्मन बाहर वाले नहीं बल्कि घर के ही लोग हैं।

एक कटु सच्चाई तो यह है कि पिछले दो सौ बरसों के दौरान साम्राज्यवादी शक्तियों ने हिंदी सहित कई भारतीय भाषाओं को एक किनारे ठेल दिया है। इस नई स्थिति ने भारतीय भाषाओं और हिंदी भाषियों में आत्महीनता की ग्रंथि का भी विस्तार किया है। हिंदी भाषा के विस्तार मार्ग में हिंदी मीडिया भी एक बड़े बाधक का काम कर रहा है। यह माध्यम कमाई के लिए दोहन तो हिंदी का करता है लेकिन सोच में पश्चिमवादी है। पिछले कुछ बरसों में हिंदी के कई जाने-माने अखबार अंग्रेजी के शब्दों का धड़ल्ले से विस्तार कर एक अधकचरी 'हिंग्लिश' भाषा को जन्म दे रहे हैं। यही वजह है कि आज हिंदी के कई अखबार लोक संस्कृति, भारतीयता और चिंतन पर बात न कर बाजारवाद के अनुकूल आचरण कर हिंदी की गरिमा को ठेस पहुंचाने का काम कर रहे हैं। यही कारण है कि आज हिंदी के किसी भी अखबार को वैचारिक स्तर पर अंग्रेजी के बराबर नहीं माना जाता। हिंदी को जितना खतरा दरअसल अंग्रेजी के समर्थकों से है उतना ही खतरा मध्यवर्ग की पश्चिमवादी सोच से भी है। इसके बावजूद सच तो यह है कि धीरे-धीरे ही सही लेकिन हिंदी भाषा की विस्तार यात्रा न सिर्फ भारत बल्कि विदेशों में भी जारी है। इसकी एक साफ वजह यह भी है कि हिंदी आज किसानों, मजदूरों की मातृभाषा बनी हुई है। आज इस बात की जरूरत अधिक है कि हम हिंदी भाषा को अपनी जातीय अस्मिता के साथ जोड़ें और उस पर गर्व करें। हम उम्मीद करते हैं कि हिंदी भाषा सरकारी प्रयत्नों से कम जबकि जन साधारण के प्रयासों से भविष्य में भी बची और बनी रहेगी।

आज जब हम हिंदी भाषा के बारे में सोचते हैं तो साफ दिखता है कि सरकारी मंत्रालयों और सार्वजनिक उपक्रमों में अंग्रेजी का वर्चस्व है। इन स्थानों पर हिंदी भाषा और भारतीय भाषाओं के प्रति

हिकारत का भाव है। विदेशों में स्थित हमारे दूतावासों में हिंदी के प्रति जिम्मेदारी का भाव कम दिखता है। इन्हें हिंदी पिछड़े और निम्न वर्ग के मजदूरों की भाषा दिखती है।

हिंदी आज भी विश्वभाषा बनने की सामर्थ्य रखती है लेकिन इस दिशा में जो भी प्रयास किए जा रहे हैं वे आधे-अधूरे हैं। इस दिशा में केंद्र सरकार द्वारा वर्धा में स्थापित किया गया महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय एक कड़ी का काम कर रहा है। जरूरत है कि भविष्य में इस विश्वविद्यालय को और अधिक संसाधन और विस्तार देने की ताकि यह हिंदी भाषा को अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर स्थापित कर महत्वपूर्ण कार्य कर सके।

बहुवचन के इस अंक में बहुविध सामग्री का संयोजन किया गया है। अर्थशास्त्री गिरीश मिश्र ने पिछले 24 सालों के दौरान उदारीकरण लागू होने के बाद हमारे घरों में किस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति का विस्तार हुआ है इसका विश्लेषण किया है। कथाकार प्रियवंद ने 'रेनेसाँ' के बहाने मुस्लिम समाज की सच्चाई को रेखांकित किया है। मनोज कुमार राय ने अपने लेख में स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी के व्यक्तित्वों पर रोशनी डाली है जबकि पंजाबी साहित्य में महात्मा गांधी के अवदान को किस नजरिए से देखा जाता है इस पर जसविंदर कौर बिंद्रा ने अपने लेख में चर्चा की है। दिवंगत साहित्यकार यू.आर. अनंतमूर्ति के साहित्यिक योगदान को स्मरण कर रहे हैं कवि आलोचक ए. अरविंदाक्षन। प्रख्यात आलोचक गोपेश्वर सिंह का कबीर पर दिया गया व्याख्यान और अमृतसर के स्वर्ण मंदिर पर केंद्रित रूप सिंह चंदेल का यात्रा वृत्तांत भी है। भगवानदास मोरवाल के नए उपन्यास 'हलाला' का एक अंश और विश्व साहित्य के दो महत्वपूर्ण कथाकारों एच.जी. वेल्स और मोपासां की कहानियां कथा खंड की मुख्य प्रस्तुति है। कविता खंड में श्याम कश्यप की त्रिलोचन डायरी, पवन करण, शैलेय, रमेश प्रजापति की कविताएं दी जा रही हैं। कवि अरुण कमल की काव्य विशेषताओं पर युवा आलोचक अमिताभ राय ने अपने लेख में प्रकाश डाला है। हमारे समय के महत्वपूर्ण कथाकार-आलोचक विजय मोहन सिंह से कथा साहित्य को केंद्र में रखकर कृष्ण कुमार सिंह द्वारा किया गया संवाद अंक की उपलब्धि भी है और कथा साहित्य पर दो टूक खरी-खरी भी है जो कि कईयों को नागवार गुजर सकती है। फिर भी हम कह सकते हैं कि यह एक आलोचक का नजरिया है जिस पर बहस होनी ही चाहिए। मीडिया कालम में इस बार हिंदी पत्रकारिता को पश्चिम बंगाल में सींचने वाले अहिंदी भाषियों की भूमिका पर लिखा है मीडिया अध्येता कृपाशंकर चौबे ने। अंक कैसा लगा यह जानने की जिज्ञासा जरूर रहेगी। पाठकों को आने वाले नव वर्ष की शुभकामनाएं।

अशोक मिश्र

उपभोक्तावाद के बढ़ते कदम

गिरीश मिश्र

उपभोग और उत्पादन की परिघटनाएं अनंतकाल से विद्यमान हैं हालांकि उनके स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होते रहे हैं। मनुष्य हो या अन्य कोई प्राणी, हर किसी को जिंदा रहने के लिए कतिपय पदार्थों की जरूरत हमेशा रही है। आरंभिक दिनों में मनुष्य फल एवं कंदमूल बटोर और अन्य थलचर एवं जलचर जीवों का शिकार कर उनका उपभोग करता रहा। इस प्रकार वह जिंदा रह सका। बटोरने और शिकार करने की प्रक्रिया को उत्पादन का नाम दिया गया।

कालक्रम में उत्पादन और उपभोग के स्वरूप में बदलाव आए। औजारों और उपकरणों के आविष्कार तथा यायावरी की जिंदगी को छोड़ लंबे समय तक एक ही स्थान पर निवास बनाने के कारण उत्पादन का स्वरूप बदला और मनुष्य कृषि एवं पशुपालन से जुड़ गया। जहां तक उपभोग का संबंध है उसमें भी बदलाव आया। मनुष्य प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का ज्यों का त्यों सेवन करने के बदले उनको पकाकर मसालों एवं नमक के साथ खाने लगा। उसने पहनने ओढ़ने तथा निवास के लिए प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं में इस प्रकार फेर-बदल किया कि वे उसकी आवश्यकताओं को बेहतर ढंग से संतुष्ट कर सकें।

कहना न होगा कि उत्पादन के पैमाने, चरित्र और स्वरूप में उपभोग की जरूरतों को देखते हुए बदलाव हुए। इस तरह उपभोग मानवीय दशा का दर्पण बना। उपभोग को देखकर पता किया जाने लगा कि मनुष्य का रहन-सहन कैसा है। इतना ही नहीं, इतिहास इंगित करता है कि उपभोग सर्जनात्मकता का स्रोत और, साथ ही, सामाजिक संबंधों और मनुष्य की पहचान का आधार रहा है।¹

उपभोग के स्वरूप को लेकर समाज विज्ञानियों के बीच काफी विभिन्नता देखी गई है। अर्थशास्त्री जहां इसको कुल मांग का पर्याय मानते हैं वहीं कई दूसरे लोग इसे खरीददारी से जोड़ते हैं और इसके अंतर्गत किसी भी व्यक्ति द्वारा विभिन्न उद्देश्यों से खरीदी जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं का समावेश करते हैं।²

उपभोग में क्या कुछ शामिल होता है, यह बहुत कुछ पर्यवेक्षक पर निर्भर होता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अर्थशास्त्री कुल मांग को ही उपभोग का पर्याय मानते हैं। 1980 के दशक में कई इतिहासकारों से इसे 'शापिंज' से जोड़ा। उसके बाद 'उपभोग' शब्द का निहितार्थ इतना व्यापक हो गया कि उसके अंतर्गत खरीददारी के अतिरिक्त इच्छा उत्पत्ति की प्रक्रिया के साथ ही अपव्यय और पुनरावर्तन (रिसाइक्लिंग) जैसी परिघटनाएं आ गईं। इस बहस में गए बिना कहा जा सकता है कि 'उपभोग' उस प्रक्रिया का द्योतक है जिसके तहत विभिन्न तरीकों से प्राप्त वस्तुओं

का इस्तेमाल कई उद्देश्यों के लिए किया जाता है।³

प्रारंभ में उपभोग को पूर्णतया उत्पादन का विपरीतार्थक माना जाता रहा। यह धारणा व्यापक थी कि उत्पादन जहां सृजन करता है, वहीं उपभोग सृजित वस्तुओं के अस्तित्व को, देर-सबेर, समाप्त कर देता है। रेमंड विलियम्स की मानें तो, पुराने जमाने में, अंग्रेजी शब्द 'कंज्यूमन' नष्ट करने, समाप्त करने, इस्तेमाल कर लेने और खपा देने का पर्याय होता था। इसी कारण वह क्षयरोग का भी द्योतक बन गया। इस शब्द का चलन चौदहवीं शताब्दी से मिलता है। अब भी अक्सरहां 'कंज्यूमड बॉय फायर' वाक्यांश प्रचलित है : जिसका अर्थ है, आग द्वारा कवलित कर लिया जाना। 'उपभोक्ता' शब्द का प्रयोग भी इसी व्यापक अर्थ में सोलहवीं सदी से होने लगा। अठारहवीं सदी के मध्य से इसमें तब बदलाव दिखा जब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के संदर्भ में इसका इस्तेमाल संगठित बाजार के बढ़ते वर्चस्व के तहत वस्तुओं और सेवाओं के सृजन और उपयोग के प्रसंग में होने लगा। 'उत्पादन' और 'उपभोग' या 'उत्पादक' और 'उपभोक्ता' शब्द परस्पर अभिन्न रूप से जुड़ गए। फिर भी अप्रीतिकर निहितार्थ उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक बने रहे। बीसवीं सदी के मध्य से 'उपभोग' और 'उपभोक्ता' शब्द अर्थशास्त्र की परिधि से निकल आम बोलचाल में आ गए। तब से 'ग्राहक' या 'खरीदार' के लिए अधिकांशतया 'उपभोक्ता' शब्द का प्रयोग होने लगा। रेमंड विलियम्स के अनुसार, 'ग्राहक' का पूर्तिकर्ता के साथ नियमित और सतत् संबंध रेखांकित होता है जबकि 'उपभोक्ता' शब्द अपेक्षाकृत अमूर्त बाजार में एक निराकर व्यक्तित्व का बोध कराता है।⁴

यदि हम पीछे मुड़कर देखें तो पाएंगे कि उपभोग के इतिहास को दो कालखंडों में बांटा जा सकता है। पहले कालखंड का आरंभ सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों के दौरान होता है जब उपभोग एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में उभरता है और इसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता समाज अस्तित्व में आता है। दूसरा कालखंड द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत आरंभ होता है जब उपभोक्ता समाज का वर्चस्व बढ़ता है।

आधुनिक उपभोक्ता समाज का उद्भव अमेरिका में हुआ। बाद में वह सारी दुनिया में तेजी से फैल गया। अमेरिका ने अपने यहां पनपे उपभोक्ता समाज के मॉडल को शीतयुद्ध के दौरान पश्चिमी यूरोपीय देशों को निर्यात कर उसे अपनाते पर बल दिया। उसकी ओर से कहा गया कि वही विकास के सोवियत मॉडल का एकमात्र प्रभावकारी विकल्प है। सर्वविदित है कि सोवियत मॉडल में अपरिग्रह और समानता पर जोर था जबकि उपभोक्ता समाज का अमेरिकी मॉडल रेखांकित करता था कि अपरिग्रह और आर्थिक संवृद्धि के फल के समान वितरण पर जोर न देकर उपभोग को बढ़ावा दिया जाए जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग बढ़ेगी और उत्पादक अपने उत्पादन को बढ़ाने में तत्परता दिखलाएंगे। उपभोग को बढ़ावा देने के लिए नई-नई और बेहतर वस्तुएं और सेवाएं बाजार में लाई जाएंगी। विज्ञापनों के जरिए संभावित उपभोक्ताओं को आकर्षित करने की कोशिशें होंगी। उत्पादकों के बीच प्रतिद्वंद्विता पनपेगी और वे नई एवं बेहतर गुणवत्ता वाली वस्तुएं और सेवाएं सस्ती दरों पर उपलब्ध कराने के प्रयास करेंगे।

उपर्युक्त अमेरिकी मॉडल के विषय में कहा गया कि वह 'समृद्ध समाज' (एफ्लुएंट सोसाइटी) लाएगा। परिणामस्वरूप समाज व्यवस्था व्यापक जन उपभोग की दिशा में उन्मुख होगी। हर कोई अपनी उपभोक्ता वाली पहचान प्राप्त करने की कोशिश करेगा। इस तरह समाज की शक्ति बदलेगी

और वह एक व्यापक उपभोक्ता समाज के रूप में उभरेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका को ध्यान में रखकर कहा गया कि इसके जरिए ही वह विकास के मार्ग पर अग्रसर हुआ है। उपभोग ने आर्थिक संवृद्धि की दर को त्वरित किया है। उसने आम लोगों की पहचान को परिभाषित करने के साथ ही सार्वजनिक एवं निजी जीवन को नया रूप दिया है।

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत, विशेषकर 1950 और 1960 के दशकों के दौरान, उपभोक्ता समाज के अस्तित्व पर कोई उंगली नहीं उठाई गई। इस बात को लेकर जरूर बहस चली कि वह किस हद तक जनहित में है। एक तरफ जहां डब्लू. डब्लू. रोस्टोव जैसे अर्थशास्त्रियों ने उसका गुणगान करते हुए कहा कि वह चयन की आजादी को बढ़ावा दे मुक्त समाज को मजबूत बनाएगा, वहीं जॉन केनेथ गालब्रेथ और वांस पैकार्ड जैसे विशेषज्ञों ने इसका विरोध करते हुए बतलाया कि उससे कृत्रिम आवश्यकताएं पनपेंगी और सार्वजनिक जीवन में घटिया किस्म का व्यक्तिवाद बढ़ेगा।

एक पीढ़ी बीतने के बाद कई समाज विज्ञानियों ने इस बात की तहकीकात करने की कोशिश की कि असलियत में क्या हुआ। इन्हीं में से एक थे इतिहासकार नील मैकेंद्रिक (Neil McKendrick)। उन्होंने पाया कि अठारहवीं सदी के दौरान इंग्लैंड में भी ऐसा दावा किया गया था। उनके अनुसार इस मॉडल के साथ जुड़े अवयव (जैसे चयन, बाजार, फैशन और स्वनिर्णयगत आय में वृद्धि) देखने को मिले। मार्क्स और फ्रैंकफर्ट विचारधारा से प्रभावित लेखकों ने यह प्रस्तुत किया कि व्यापक जन उपभोग की परिघटना बड़े पैमाने पर उत्पादन का परिणाम है। कहना न होगा कि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन नवनिर्मित कारखानों में मशीनों और व्यापक श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण के आधार पर होने लगा था। रोशनी और ऊर्जा के नए संसाधनों और स्रोतों के उपलब्ध होने से उत्पादन की प्रक्रिया बेरोक-टोक अहर्निश चलने लगी।

मैकेंद्रिक ने इस कारण कार्य संबंध को उलट दिया और दावा किया कि उत्पादन के स्वरूप के व्यापक बनने के पीछे उपभोग का व्यापक होना था। उनके अनुसार 1760 के दशक तक यानी औद्योगिक क्रांति के पूरी तरह पुष्पित-पल्लवित होने के पहले ही चाय, सूती कपड़ों, चीनी मिट्टी के बर्तनों आदि का उपभोग बड़े पैमाने पर होने लगा था। उन्होंने रेखांकित किया कि इसके पीछे फैशन से जुड़ी पत्रिकाओं और विपणन की रणनीतियों की अहम भूमिका थी। उन्होंने इंगित किया कि जोशिया वेजउड की विपणन संबंधी रणनीतियों ने, जिनमें विज्ञापन का काफी महत्व था, मांग की मात्रा को काफी बढ़ाया। फलतः उत्पादन में वृद्धि के लिए नए उद्योग-धंधे स्थापित किए गए। इस प्रकार यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया कि 'उपभोग क्रांति' ने 'औद्योगिक क्रांति' को जन्म दिया।⁵

कहना न होगा कि यहां हमारा सामना 'अंड कुक्कुटी न्याय' से है कि अंडा और मुर्गी में से पहले कौन आया। कई इतिहासकारों ने इस तरह 'उपभोक्ता समाज' (कंज्यूमर सोसायटी) के उद्भव काल को काफी पीछे ढकेलने के प्रयास आरंभ किए। पुनर्जागरण से जुड़े शोधकर्ताओं ने उपभोक्ता क्रांति के चिह्न और लक्षण इटली के उत्तरी भाग में स्थित तत्कालीन नगरों में ढूँढे। उन्होंने बतलाया कि वस्तुओं की नीलामी, वायदा खरीद और निजी स्रोतों से मिलने वाले ऋणों की भरपूर उपलब्धि ने उपभोग को बढ़ाया। इन विद्वानों ने यह भी बतलाया कि उपभोग नागरिक जीवन, सामाजिक मानदंडों तथा रीति-रिवाजों से घनिष्ठ तौर पर जुड़ा था।⁶

अप्रैल 2012 में प्रकाशित क्लेयर हॉल्लेरन की पुस्तक 'शॉपिंग इन एंशियंट रोम : द रिटेल

ट्रेड इन द लेट रिपब्लिक एंड द प्रिंसिपेट' में प्राचीन रोम के उपभोक्ता समाज की एक झलक दिखती है। वर्तमान कालीन उपभोक्ता समाज से जुड़ी अनेक बातें वहां देखने को मिलती हैं।⁷

शीत युद्ध समाप्त होने के दो दशक बाद समाज विज्ञानियों ने पूर्वग्रह त्याग उपभोक्ता समाज पर नए सिरे से नजर डालना आरंभ किया। उन्होंने उपभोक्ता समाज को निरंतर बनाए रखने और आगे बढ़ाने से जुड़े अनेक नए प्रश्नों की ओर अपना ध्यान किया। यह सिलसिला अब भी जारी है। उदाहरण के लिए आर्थिक संवृद्धि की सीमाओं तथा पर्यावरण पर उसके प्रभाव को लेकर तरह-तरह की चिंताएं व्यक्त की जा रही हैं।

जैसा कि हम कह चुके हैं, वर्तमान उपभोक्ता समाज का मॉडल अमेरिका ने तैयार कर अन्यत्र निर्यात किया जिससे समाजवाद और सोवियत संघ के प्रति बढ़ते आकर्षण से निपटा जा सके। अतः यह अनायास नहीं है कि 'उपभोक्तावाद' और 'अमेरिकीकरण' परस्पर पर्याय बन गए और आज तक बने हुए हैं। कई लोग उपभोक्ता समाज के अमेरिकी मॉडल के निर्यात को अन्य देशों पर अमेरिकी वैचारिक आक्रमण के रूप में लेते हैं। उनका दावा है कि इसके परिणामस्वरूप अन्य देशों की अपनी परंपराओं, जीवन शैलियों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अपूरणीय क्षति हुई है।

सतही तौर पर देखें तो वस्तुओं एवं सेवाओं का आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए इस्तेमाल ही उपभोग माना जाता है, किंतु थोड़ी गहराई से उपभोग की प्रक्रिया और चरित्र का विश्लेषण करें तो तीन महत्वपूर्ण आयाम उभरते हैं। पहले आयाम को लें तो उपभोग से उपभोक्ता विशेष की निजी हैसियत, सामाजिक स्थिति तथा अन्य लोगों की तुलना में उसकी आर्थिक मजबूती या कमजोरी का संकेत मिलता है। दूसरे आयाम के अंतर्गत पूंजीवादी समाज में व्यक्ति या वर्ग विशेष की रुचि और जीवन शैली के स्वरूप की जानकारी प्राप्त होती है। तीसरे आयाम की परिधि में व्यक्तियों और समूहों के बीच उपभोग से जुड़े प्रतीकों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया आती है।

स्पष्टतया, उपभोग केवल आवश्यकताओं को ही संतुष्ट नहीं करता बल्कि उपभोक्ता विशेष की सामाजिक शक्ति और स्थिति को भी रेखांकित करता है। इसी से 'ध्यानाकर्षी उपभोग' की परिघटना प्रकट हुई है जिसे पहले पहल थोस्टीन वेबलेन ने उन्नीसवीं सदी के अंत में विस्तार से प्रस्तुत किया। आगे चलकर फ्रांसीसी चिंतक पियरे बुर्दियो ने 1960 के दशक में 'विभेद' (डिस्टिंक्शन) की अवधारणा के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया।⁸ स्पष्ट है कि उपभोग को सामाजिक विभेदीकरण और असमानता का जनक माना गया। यही कारण है कि ऐसी वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग की ओर लोग उन्मुख हुए जिससे समाज के अन्य सदस्यों और वर्गों पर उनका रौब जमे और वे अपने को उनसे श्रेष्ठ दिखा सकें। इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग उनके 'प्रतीक मूल्य' के कारण भी होने लगा।

इन उपभोक्ताओं के मुकाबले में आने की ललक समाज के निचले पायदानों पर बैठे या उनके समान हैसियत वालों में जगी। इससे उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा मिला और 'उपभोक्तावाद' की परिघटना का जन्म हुआ। कहा गया कि अलग-अलग जगह इस होड़ की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में देखी गई। उदाहरण के लिए भारत और नाइजीरिया में उच्चतर हैसियत वालों के समान बड़ी गाड़ियां खरीदने और उन पर ऐसे नंबर लगवाने की होड़ अन्य लोगों में देखी है जो सड़क पर निकलते ही आम जनों को आकर्षित कर सकें। इन आकर्षक नंबरों को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दबाव

और रिश्वत का भी सहारा लिया जाता है। कतिपय देशों में इस प्रवृत्ति को भोंड़ा करार देने वाले भी देखे गए जिनमें परंपरागत समृद्ध लोगों की प्रधानता थी। इन परंपरागत समृद्ध लोगों ने अपने को नवधनाढ्यों से अलग करने के प्रयास किए।

औद्योगिक क्रांति के बाद वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन तेजी से बढ़ा। उत्पादकों ने बाजार में खरीददारों की संख्या बढ़ाने के लिए विज्ञापन का सहारा उसके विभिन्न रूपों में लिया। पत्र-पत्रिकाओं, प्रदर्शनियों, फिल्मों, नाटकों, रेडियो, टेलीविजन और घर-घर जाकर या टेलीफोन एवं व्यक्तिगत संदेशों के जरिए संभावित ग्राहकों को आकर्षित करने की मुहिम देखी गई। विज्ञापन के उपर्युक्त तौर-तरीके कालक्रम में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के साथ आए। संभावित ग्राहकों के मानस को इस प्रकार प्रभावित किया जाने लगा कि वे आवश्यकता हो या न हो वस्तु या सेवा विशेष को प्राप्त करने के लिए ललकें। वस्तु या सेवा विशेष के गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर विज्ञापित किया जाने लगा। प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ गई कि वे एक-दूसरे की वस्तुओं से बेहतर बताने की कोशिश करने लगे और इसके लिए अनेक हथकंडे अपनाए गए। छद्म आवश्यकताओं का सृजन किया गया। कालक्रम में एक 'संस्कृति उद्योग' पनपा जिसने उपभोक्तावाद को नए आयाम प्रदान कर नई ऊंचाइयों पर पहुंचाया। उसने महिलाओं की ओर विशेष ध्यान दिया और यह रेखांकित करने की कोशिश की कि वे उपभोक्तावाद के जरिए अपनी एक अलग स्वतंत्र पहचान बना सकती हैं। नारीवादियों ने सिर्फ महिलाओं के लिए पृथक चायखाने, रेस्तरां और शौचालय स्थापित किए। शॉपिंग या खरीदारी के जरिए महिलाओं के घर से बाहर निकलने के अवसर पैदा किए गए।⁹

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों के दौरान महिलाएं खरीदार के रूप में जोर शोर से सामने आईं। पेरिस के बॉनमार्च और लंदन के सेलिफ्रिजेज जैसे डिपार्टमेंट स्टोर्स ने महिला खरीददारों को आकर्षित करने के विशेष प्रयास किए।

अर्थशास्त्री जेम्स डुएसेन बेरी ने 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध में उपभोग का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया उसमें रेखांकित किया गया था कि किस प्रकार आदतें भावी उपभोग की रूपरेखा तैयार करती हैं।¹⁰

याद रहे कि अल्फ्रेड मार्शल ने उपभोग की कल्पना एक सीढ़ी के रूप में की थी जिसमें हर निचला पायदान आदतों और इच्छाओं से उत्प्रेरित होकर अगले ऊपरी पायदान की ओर ले जाता है। विलियम स्टेनले जेवंस ने 1870 के दशक के दौरान उपभोग को मूल्य सृजन की प्रक्रिया के केंद्र में रखा और व्यक्तिगत चयन पर जोर दिया। उन्होंने माना कि उपभोग बर्बाद या नष्ट करने की प्रक्रिया का पर्याय है। उपभोग के परिणामस्वरूप वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।¹¹

इन दिनों बाजार में खरीदारी के कार्य कलाप विशेषाधिकार से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। देखा गया है कि आए दिन लोग इस तथ्य को दरकिनार कर देते हैं कि उपभोग में आने वाली अनेक वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में होता है। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य सेवाएं, देश की सुरक्षा, आंतरिक शांति और कानून व्यवस्था, शिक्षा, राजकीय कैंटीनों के जरिए खाद्य सामग्रियां उपलब्ध कराना, यातायात के सघन, पार्क आदि। स्पष्टतया उपभोग को बढ़ावा देने में राज्य की भारी भूमिका रही है।

अपनी अहमियत के बावजूद उपभोग के विभिन्न आयामों का गंभीर अध्ययन पिछले

पचास-साठ वर्षों की ही देन है, यद्यपि बजट, आहार, आवास और व्यय की संरचना का अध्ययन वर्ग, स्वास्थ्य और गरीबी के स्तर को जानने की दृष्टि से काफी जमाने से होते रहे हैं हालांकि वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति, इस्तेमाल और बर्बादी से जुड़े पहलुओं पर बहुत कम ध्यान दिया जाता रहा है। पिछले कुछ दशकों के दौरान ही उपभोग के अध्ययन के क्रम में सांस्कृतिक, भूमंडलीय और भौतिक इतिहास से जुड़े आयामों का समावेश हुआ है। अध्येता, उत्पादन, वस्तुओं एवं सेवाओं के परिचालन और उनसे जुड़े प्रतीकों का अध्ययन करने लगे हैं।

इधर कुछ दशकों से समृद्धि और उपभोग पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को लेकर विशेष और विस्तृत चर्चाएं हो रही हैं। कई लोग उपभोग के वर्तमान स्वरूप को समृद्धिजन्य बीमारियों के रूप में चित्रित करने लगे हैं। उदाहरण के लिए मोटापा, मधुमेह, हृदय रोग आदि को इनमें शामिल किया जाने लगा है। सार रूप में उपभोग से तात्पर्य वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त कर आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की प्रक्रिया से है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के उपभोग को स्याह रंगों में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति देखी गई है। हेराफेरी, चालबाजी, निजता, अवरोध अंसंगति और कष्ट से उसके जुड़ाव को रेखांकित किया गया है जबकि पहले उसे सर्जनात्मकता, निजी शैली और आकर्षक नवीनता और आनंद का प्रतीक माना जाता रहा। उपभोग के आधार पर यूरोप को एशिया के श्रेष्ठतर दिखलाने की कोशिशें हुईं। इन दिनों उपभोग यूरोप के केंद्रित दृष्टिकोण के बदले भूमंडलीय दृष्टिकोण का अंग बन गया है। कहना न होगा कि उपभोग से जुड़े भूमंडलीय दृष्टिकोण के आने की प्रक्रिया अठारहवीं सदी में ही स्पष्ट रूप से दिखने लगी थी। चीन और भारत जैसे देशों से उपभोग की वस्तुओं का प्रवेश बड़ी तेजी से यूरोप में हुआ और वहां उसके लिए चाहत बढ़ी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत उपभोग की वस्तुओं में विविधता की कमी आई और बड़ी तेजी से एकरूपता का उदय देखा गया। कुछ लोग मानते हैं कि नई उपभोक्ता संस्कृति के आगमन से कल्पना की गुंजाइश काफी कुछ समाप्त हो गई। फिल्मों और पत्र-पत्रिकाओं ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। विज्ञापनों के जरिए ब्रांड या ट्रेडमार्क वाली वस्तुओं का प्रचार-प्रसार किया गया।

मेरी डुग्लस और बैरन इशरवुड¹² ने वस्तुओं को सूचना के पुंज के रूप में प्रस्तुत किया। बतलाया गया कि उनसे प्राप्त 'प्रतीकात्मक संचार से जुड़े जोरदार कर्मकांड' के आधार पर सामाजिक जीवन संभव हो सका। उपभोक्ताओं को अपनी पहचान, सार्थकता और परस्पर संबंध का बोध हुआ। उपभोग सामाजिक समावेश तथा बहिष्कार और अलगाव का माध्यम बना। इस तरह उपभोग सांस्कृतिक संघर्ष के मैदान के रूप में उभरा। उपभोग के प्रति यह दृष्टिकोण सांस्कृतिक इतिहासकारों की नई पीढ़ी के बीच काफी लोकप्रिय हुआ। लोगों के खानपान और उनके द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रति अपनाए गए तरीकों के आधार पर उनकी पहचान को जानना संभव हो सका।

यदि हम अपने आसपास नजर दौड़ाएं तो पाएंगे कि मैक्स वेबर के जमाने के मितव्ययी, अनुशासित और सादा जीवन बिताने वाले काफी हद तक विदा हो गए हैं। उनकी जगह जो उपभोक्ता आए हैं उनका जोर वस्तुओं एवं सेवाओं के इस्तेमाल से अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के साथ ही अपनी शान-शौकत, सामाजिक हैसियत और आर्थिक स्थिति के प्रदर्शन पर कहीं अधिक है। वे अपने को समाज के अन्य लोगों से अलग दिखलाने की पुरजोर कोशिश करते हैं। इस तरह

उपभोग के चरित्र में एक बड़ा सांस्कृतिक बदलाव आया है। अब उत्पादक के बदले उपभोक्ता समाज का केंद्रबिंदु बन गया है।

खाद्य पदार्थ अब सिर्फ कैलोरी के आधार पर ही नहीं देखे-परखे जाते हैं उनके प्रतिष्ठा और प्रतीक मूल्यों पर भी ध्यान दिया जाता है। कहना न होगा कि वर्ग-आधारित समाज में उपभोग हाशिए से निकलकर उसकी नींव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। महिलाओं का महत्व उपभोग की प्रक्रिया के आयोजन और संचालन की दृष्टि से अहम हो गया है।

उपभोग की पुनर्प्रतिष्ठा से सार्वजनिक एवं निजी जीवन, दोनों, को नए आयाम मिले हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही यूरोप और अमेरिका में महिलाओं की खरीदारी की दृष्टि से काफी बड़ी भूमिका बन गई है। अब खरीदारी को हेराफेरी और तुच्छ कृत्यों का सूचक मानने के बदले प्रतिष्ठा और मुक्ति का प्रतीक माना जाने लगा है। पीछे मुड़कर देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वर्ष 1900 आते-आते उपभोग नर-नारी की समानता का संवाहक बन गया। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों के दौरान नवउदारवाद की धाक जमने के बाद सार्वजनिक सेवाओं को मुक्त बाजार में लाने से उपभोक्तावाद को बड़ा प्रोत्साहन मिला। याद रहे कि अब उपभोग उत्पादन के साथ जुड़ी क्रिया न रहा, अपितु वह उसकी छाया से निकलकर बाहर आ गया। साथ ही उसकी संरचना भी बदल गई।

अध्येताओं ने 1970-1980 के दशकों के दौरान उपभोग के इतिहास में एक बिलकुल नया अध्याय आरंभ होने की बात कहने के बदले उसे पुनर्जागरण और प्रबोधन के युगों से जोड़ने के प्रयास आरंभ किए। उनका दावा था कि उपभोग की संस्कृति उन्हीं युगों में हुई थी किंतु नवउदारवादी पूंजीवादी व्यवस्था के आने पर उसने रफ्तार पकड़ी।

विगत दो दशकों के दौरान उपभोग के इतिहासकारों ने डिपार्टमेंट स्टोर, घरों की भीतरी साज-सज्जा, विलास की वस्तुओं एवं सेवाओं, खाद्य एवं पेय पदार्थों और फैशन के आयामों के साथ ही उपभोक्ता राजनीतिक पर भी ध्यान देना आरंभ किया है। अब यह माना जाने लगा है कि आशा के विपरीत भूमंडलीकरण उपभोग में समरूपता नहीं ला सका है। परिणामस्वरूप प्रत्येक देश के लिए 'उपभोक्ता समाज' का एक ही मॉडल नहीं हो सकता। विविधताओं और देश विशेष को अपनी परिस्थितियों पर भी ध्यान देना होगा। यह भी याद रखना होगा कि हर देश में कालक्रम में स्थितियां बदली हैं। जापान, दक्षिण कोरिया और भारत जैसे देशों में वह पुरानी पीढ़ी समाप्त होने लगी है जिसका जोर अपरिग्रह, बचत और सादे रहन-सहन पर था। नेहरू-इंदिरा गांधी के जमाने की तुलना में भारत का वर्तमान उपभोक्ता व्यय करने तथा तड़क-भड़क से रहने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाता है। शहरी समाज में बचत पर पहले जितना जोर नहीं है। क्रेडिट कार्ड ने शहरी उपभोक्ता को वर्तमान आय और उसके आधार पर ऋण लेने की क्षमता के लक्षण घेरे से बाहर ला दिया है। वह अब क्रेडिट कार्ड के आधार पर कल की संभावित आय के आधार पर ऋण प्राप्त कर अपना उपभोग बढ़ा सकता है। शहर का नवोदित मध्यवर्गीय व्यक्ति एक से अधिक क्रेडिट कार्ड रखने लगा है।

हाल के दशकों में निजी उपभोग को राज्य की नीतियों और कार्यों से काफी बढ़ावा मिला है। राज्य ने ऋण संबंधी ऐसी नीतियां बनाई हैं जिनसे खरीदारी के लिए वित्तीय संसाधन आसानी से

सस्ती ब्याज दरों और अनुकूल शर्तों पर उपलब्ध हो जाते हैं। बैंक और अन्य वित्तीय संस्थान टिकाऊ और गैर टिकाऊ हर प्रकार की वस्तु के लिए आसान शर्तों पर भरपूर ऋण उपलब्ध कराते हैं जिससे खरीदारी में कोई दिक्कत नहीं आती। यातायात एवं संचार के क्षेत्रों में राजकीय निवेश बढ़ने से उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त कर पाना पहले से कहीं अधिक आसान हो गया है।

संदर्भ :

1. फ्रैंक ट्रेटमैन्न्, 'इंट्रोक्शन', फ्रैंक ट्रेटमैन्न् (सं.), दी ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ द हिस्ट्री ऑफ कंजम्पशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 2012, पृ.-1
2. वही
3. वही, पृ.-3
4. रेमंड विलियम्स, की वर्ड्स : ए वाकेबुलरी ऑफ कल्चर एंड सोसायटी, फोंटाना प्रेस, लंदन, पृ.-78-79
5. फ्रैंक ट्रेटमैन्न्, 'इंट्रोक्शन', फ्रैंक ट्रेटमैन्न् (सं.), दी ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ द हिस्ट्री ऑफ कंजम्पशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 2012, पृ.-4
6. वही, पृ.-5 साथ ही देखें, नील मैकेंद्रिक, जॉन ब्रुवर और जॉन हैरॉल्ड प्लंब, द बर्थ ऑफ ए कंज्यूमर सोसायटी : द कमर्शियलाइजेशन ऑफ एटीथ सेंचुरी इंग्लैंड, यूरोपा पब्लिकेशंस, लंदन, 1982
7. क्लेयर हॉल्लेरन, शॉपिंग इन एंशियंट रोम : द रिटेल ट्रेड इन द लेट रिपलब्लिक एंड ए प्रिसिपेट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 2012
8. थोस्टीन वेबलेन, थियरी ऑफ द लेजर क्लास, आकार बुक्स, दिल्ली, 2005 (प्रथम संस्करण, 1899), पियरे बुर्दियो, डिस्टिंक्शन : ए सोशल क्रिटिक ऑफ द जजमेंट ऑफ टेस्ट, कैंब्रिज, एमए, 1979, अंग्रेजी अनुवाद 1984
9. फ्रैंक ट्रेटमैन्न्, 'इंट्रोक्शन', फ्रैंक ट्रेटमैन्न् (सं.), दी ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ द हिस्ट्री ऑफ कंजम्पशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 2012, पृ.-11-13
10. जेम्स डुएसेन बेरी, इंकम, सेविंग एंड द थियरी ऑफ कंज्यूमर विहैवियर, कैंब्रिज, एम, 1949
11. अल्फ्रेड मार्शल, प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनमिक्स, लंदन, 1920 और विलियम स्टेनले जेवंस, द स्टेट इन रिलेशन टू लेबर, लंदन, 1882
12. मेरी डुगलस और बैरन इशरवुड, द वर्ल्ड ऑफ गुड्स : टुआइस ऐन एंथ्रोपोलोजी ऑफ कंजम्पशन, राउटलेज, लंदन, 1996



रैनेसाँ

प्रियंवद

आज रैनेसाँ की बात करना अकारण या शायद कुछ विचित्र लगेगा, यदि हम इसे केवल यूरोप या कि इटली के एक परिवर्तनकारी युग के रूप में देखेंगे पर यदि हम धैर्य के साथ इसके जन्म, स्वरूप, इतिहास और आशय को समझ लें, तो यह हमारे वर्तमान के सबसे गहरे सरोकारों में एक है, विशेष रूप से कला, साहित्य और विचार की दुनिया में।

वास्तव में रैनेसाँ वैश्विक और जटिल विषय है। संभवतः मनुष्य के इतिहास में न तो दूसरा कोई कालखंड इतना महत्वपूर्ण रहा और न किसी पर इतनी अधिक बात की गई है। ऐसे विषय पर बात करने में बहकाव के अपने खतरे हैं। उसे ठीक से न समझे जाने का संकट भी है। हमारे साथ ऐसा कुछ न हो, इसलिए यह उचित होगा कि हम अपने विषय को कुछ खंडों में विभाजित कर लें और फिर क्रम से उन पर बात करते चलें। हम विषय के तीन खंड बनाते हैं। रैनेसाँ के जन्म, आशय, स्वरूप और इतिहास का पहला खंड, भारतीय संदर्भ में रैनेसाँ का दूसरा खंड और हमारे अपने वर्तमान में रैनेसाँ की उपस्थिति, संभावना या आवश्यकता का तीसरा खंड।

हिंदी में हमने 'रैनेसाँ' उच्चारण चुना है। इसे 'रैनेसाँ', 'रिनेसाँ' और अंग्रेजी उच्चारण 'रिनेसाँस' भी कहा जाता है। इसके हिंदी अनुवाद के रूप में भी कई शब्द प्रचलित हैं। पुनर्जन्म, पुनर्जागरण, नवजागरण, नवोत्थान, पुनरूत्थान आदि। फिलहाल हमने अपने विषय के लिए हिंदी अनुवाद का शब्द न लेकर मूल शब्द 'रैनेसाँ' का ही चुनाव किया है।

रैनेसाँ इटली के उस युग को कहा जाता है जिसने अपने समय के मनुष्य की पारंपरिक प्रवृत्तियों, विचारों और मूल्यों को बदला। पहले तो शुरू में कला और साहित्य में ही ये बदलाव आए और इसके लिए ही रैनेसाँ शब्द का प्रयोग किया गया पर बाद में दूसरे क्षेत्रों में भी जब बड़े बदलाव हुए, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए भी रैनेसाँ शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। इस तरह रैनेसाँ मनुष्य, समाज या राज्य के बड़े परिवर्तनों को इंगित करने के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। समय के साथ यह शब्द अपना मूल आशय, व्यंजना, रूप खोता गया और एक ऐसा बेहद लचीला शब्द बन गया, जिसे किसी भी तरह के मामूली परिवर्तन के लिए भी प्रयोग किया जाने लगा। अब यह किसी भी आधुनिक मूल्य या नए विचार या सामाजिक, धार्मिक परिवर्तन मात्र के लिए भी प्रयोग होने लगा है। यहां हम पहले इसके मूल अर्थ और रूप को समझेंगे। इसकी कुछ विशेषताएं चिन्हित करेंगे और फिर आगे उसी आशय के साथ इसका व्यवहार करेंगे। हमारे लिए रैनेसाँ मात्र कोई आधुनिक मूल्य नहीं, या सिर्फ प्रगतिशीलता नहीं या सिर्फ एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण मात्र नहीं बल्कि कुछ

निश्चित प्रवृत्तियों के साथ प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द होगा।

पश्चिमी रोम के पतन के बाद से पूर्वी रोम के पतन तक लगभग हजार वर्ष का समय कला और विचार की दृष्टि से 'अंधकार युग' माना जाता है। चर्च और राज्य दोनों ही असृजनशील भूमिकाओं में थे। राज्य बिखर रहा था, चर्च संकुचित, अनैतिक और शांतिकेंद्र बनने में व्यस्त था। इन कई सदियों तक हम कोई बड़ा दार्शनिक, बड़ा लेखक नहीं देखते। सोलहवीं सदी के मध्य में विज्ञान में कोपरनिकस ने पहली बार अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। गोथिक कला से अलग वास्तुशास्त्र में बड़ा परिवर्तन हुआ। साहित्य में पेत्रार्क यह काम पहले कर चुके थे। यह वह समय था जब इटली छोटे-छोटे नगर राज्यों में बंट कर षड्यंत्रों, विलासिता और युद्धों में व्यस्त था। 'केप ऑफ गुड होप' से भारत के समुद्री मार्ग का पता चलना व अमरीका की खोज ने, समुद्रों पर स्पेन और पुर्तगाल का वर्चस्व बढ़ा दिया था। काली मिर्च पर इटली के व्यापार का आधिपत्य खत्म हो गया था। उसके ढहते सामंतवाद और पूंजी घरानों के लिए यह बड़ा झटका था। चर्च अपनी पवित्रता, नैतिकता को ही अविश्वनीय बना चुका था। लोग मृत्यु के बाद एक सुखमय लोक की कल्पना में चर्च को अपने खून पीने की गाढ़ी कमाई देते थे, उसके द्वारा बताई जीवन शैली अपनाते थे, जीवन में नैतिकताओं का पालन करते थे। उनकी इस गाढ़ी कमाई पर ही इन नगर राज्यों की विलासिता फलती-फूलती थी। वे आपसी युद्धों में जर्जर हो चुके थे। मामूली, गरीब या बिल्कुल वंचित लोग नगरों के कारखानों में दयनीय स्थितियों में काम करते थे। शासन में उनका कोई अधिकार नहीं था। ऐसे इटली में कोई बड़ा परिवर्तन आना अनिवार्य था। वह परिवर्तन धीरे धीरे रैनेसाँ की शक्ति में उनके जीवन में आया। हालांकि इस रैनेसाँ में सब कुछ महान नहीं था, सब कुछ श्रेष्ठ नहीं था, फिर भी 'मनुष्य' की अपनी एक पहचान बनी थी और फिलहाल यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। मनुष्य की अपनी सत्ता, अस्मिता, 'इंडिविजुएलिज्म' यानी व्यक्तिवाद ही रैनेसाँ की सबसे बड़ी उपलब्धि थी, क्योंकि इसके पहले कभी मनुष्य को इस रूप में देखा ही नहीं गया था। आस्था और अंधनिष्ठा की जगह तर्क और वैज्ञानिकता ने ली थी। अब महानता पारंपरिक या वंशगत नहीं थी, बल्कि जीवन को कोई विराट व कलात्मक अर्थ देने में थी।

इतालवी भाषा में रैनेसाँ को LA RINASCITA यानी 'पुनर्जन्म' कहा गया। इसका पहला प्रयोग संभवतः वसारी ने 1550 ई. में अपनी कलाकारों की जीवनीयों की प्रथम और प्रख्यात पुस्तक में किया। फ्रांसीसी विश्वकोश (1751-72) में पहली बार निश्चित रूप से RENAISSANCE शब्द का प्रयोग हुआ। यह चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक साहित्य और कला के विकास को व्यक्त करता था। हालांकि इटली में यह युग था कि आंदोलन सोलहवीं सदी में ही कमजोर पड़ना शुरू हो गया था, पर यूरोप के दूसरे देशों फ्रांस, जर्मनी, हॉलैंड, इंग्लैंड और स्पेन में उस समय बढ़ रहा था। वहां इसकी अभिव्यक्ति कला और साहित्य के बाहर, नए समुद्री मार्ग, नए उपनिवेश, नई पूंजी और देश की सीमाओं से परे विशाल साम्राज्यों की शुरुआत में भी होने लगी थी। रूसो, वाल्टेयर के विचारों और फ्रांसीसी क्रांति के 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' के नारे में इसकी परिणति मानी गई। इस तरह रैनेसाँ वास्तव में कोई सीमित या निश्चित कालावधि या कलावधि का परिवर्तन नहीं था बल्कि एक विचार था जो इटली से शुरू होकर पूरे यूरोप में फैल रहा था। एक जीवन पद्धति थी जो युद्ध, व्यापार, राष्ट्रवाद, कला तथा साहित्य में अलग से दिखती थी। यदि हम इस रैनेसाँ की कुछ

विशिष्टताएं चिह्नित करें, तो ये केवल आधुनिक मूल्य, आधुनिक विचार नहीं होंगी बल्कि एक ऐसे महान अतीत की पुनर्चना होगी जो अपने वर्तमान आधुनिक चिंतन और नए मूल्यों से संयुक्त होकर एक 'नवीनता' को जन्म देती है। यदि हम उस समय के इटली में ऐसे कुछ मुख्य आधुनिक मूल्य तलाशना चाहें जिन्होंने रैनेसाँ को जन्म दिया, तो वे दो हैं। चर्च की घटती सत्ता और विज्ञान तथा तर्क का बढ़ता वर्चस्व। चर्च से मुक्ति ने 'इंडिविजुएलिज्म' को यानी व्यक्तिवाद को, व्यक्ति की अस्मिता को बढ़ावा दिया। यहां तक कि कालांतर में नैतिकता के किसी भी बंधन या अंकुश से मुक्त रहने के कारण रैनेसाँ का उभार अराजकता तक पहुँचा। मैकयावली इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यह ध्यान से देखने की बात है कि यह नवीनता अपने इतिहास, अतीत और परंपराओं को खारिज नहीं करती। स्वयं को इससे अलग भी नहीं करती, बल्कि कुशलता के साथ उसे आत्मसात कर लेती है। उससे ही शक्ति ग्रहण करती है। उससे जुड़कर ही अपना नया स्वरूप गढ़ती है। यानी कोई समाज या राष्ट्र सदियों पहले के अपने जनक समाज या राष्ट्र को अपने वर्तमान अस्तित्व के लिए धन्यवाद देता है। उसका वंशज होना स्वीकार करता है और ऐसा वह राष्ट्रवाद की छतरी में करता है। आधुनिकता पर पुरातनता का यह संघात किसी बड़े व्यक्तिगत या गतिभंग को जन्म नहीं देता। यह इस तरह का भी नहीं होता कि काल वहां से खंडित होकर दो अलग-अलग हिस्सों में दिखने लगे। प्राचीनता से धीरे-धीरे विच्छिन्न होता हुआ, कहीं थोड़ा बदलता, कहीं थोड़ा उससे जुड़ा हुआ यह परिवर्तन, पूरी तरह अस्तित्व में आने में काफी समय ले लेता है। वह अपने पूर्वयुग से पूरी तरह संबंध विच्छेद नहीं करता बल्कि उससे उभरता हुआ एक द्वीप जैसा दिखता है। यह परिवर्तन मनुष्य की नई स्वतंत्रता और अधिकारों का घोष होता है। यह परिवर्तन मनुष्य जीवन के प्रत्येक पक्ष में होता है। भोजन, कपड़ों से लेकर वैज्ञानिक स्थापनाओं, साहित्य व कला की व्याख्याओं तक में। फिर भी, इस नवीनता की, इन आधुनिक मूल्यों की प्रेरक शक्ति इसकी पुरातन संपदा ही होती है। समाज इस परिवर्तन में बहुत धीरे-धीरे सरकता हुआ प्रवेश करता है। धीरे-धीरे बदलता है। इतना धीरे कि दो युगों की विभाजन रेखा दिखती ही नहीं है। इटली में मध्ययुग जब अपने चरम पर था तब दांते 'डिवाइन कामेडी' लिख रहा था और भारत में कबीर अपने करघे पर सबसे आधुनिक चेतना के ताने बाने बुन रहा था। इस तरह अब हम रैनेसाँ के हम तीन आवश्यक तत्व चिन्हित कर सकते हैं। पहला महान अतीत की तलाश या पुनर्चना, दूसरा वर्तमान के आधुनिक मूल्य और तीसरा राष्ट्रवाद।

इटली में सबसे पहले वास्तुशास्त्र में रैनेसाँ के इस परिवर्तन को देखा गया। फिर साहित्य में ग्रीक और लैटिन शैली तथा विचार और तर्क को अपनाने से यह युग शुरू होता है। इस युग की कुछ ऐसी विशिष्टताएं थीं जो इसे अपने समय की पारंपरिकता या कि प्राचीनता से अलग कर रहीं थीं। इनमें सबसे प्रमुख इसका 'व्यक्तिवाद' यानी व्यक्ति की सत्ता, 'इंडिविजुएलिज्म' था। मनुष्य अपने लिए एक नई तरह की स्वतंत्रता की मांग कर रहा था। धर्म, राज्य और समाज के पारंपरिक, तथा सदियों से चले आ रहे ढांचे में यह एक नई आवाज थी जो इसके पहले कभी नहीं सुनी गई थी। यह मनुष्य विभिन्न सत्ता केन्द्रों के सामने अपने अस्तित्व के महत्व को स्थापित करने तथा स्वीकृत किए जाने का सबसे बड़ा अविष्कार कर रहा था। इसमें भी बड़ी बात यह थी कि यह विचार सिर्फ यहीं पर नहीं रुका था। वह पूरी मानवता को समझने और जानने के लिए भी बहुत उत्सुक था। समझने की इसी कोशिश में ही रैनेसाँ में मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य और विज्ञान, मनुष्य और

कला, मनुष्य और धर्म, मनुष्य और समाज, मनुष्य और मनुष्य के संबंधों की गहराई से पड़ताल की गई। इसे विश्लेषित किया गया। हालांकि उस समय इटली राज्य राजनैतिक रूप से असंगठित था। पीसा, फ्लोरेंस, मिलान, वेनिस, जैसे नगर राज्यों में बंटा था पर उसके पास धन बहुत था। इस धन के साथ उसके पास रोमन साम्राज्य का एक अद्वितीय, स्वीकृत, वर्चस्ववादी, महान, वैभवपूर्ण अतीत भी था। उस महान साम्राज्य के भग्नावशेष थे। पुस्तकों में उसकी स्मृतियां थीं। उसके लिए मात्र रोम ही वैश्विक कला, वैभव, शांति, धर्म और महानता का अंतिम प्रतीक था। रोमन साम्राज्य को पराजित और नष्ट करने वाले असभ्य, बर्बर और क्रूर थे। वसारी ने लिखा है 'रोम के पतन के साथ उसके भग्नावशेषों के नीचे अपना शिल्प और शरीर दफन करके, सबसे उत्कृष्ट शिल्पकार, मूर्तिकार, चित्रकार और वास्तुशास्त्री भी खत्म हो गए। नष्ट होने वाली कलाओं में चित्रकला और मूर्तिकला प्रथम थीं। ये ऐसी कलाएं थीं जो हमें किसी भी अन्य कला से अधिक आनंद देती थीं। उसके बाद नष्ट होने वाला शरीर के हित के लिए आवश्यक वास्तुशास्त्र था। यह बना तो रहा पर पहले की तरह न तो श्रेष्ठ था न दोष रहित। यदि यह सच नहीं होता कि चित्रकला और मूर्तिकला उन लोगों के द्वारा जीवित रखी गई जो एक के बाद एक अपने काम के द्वारा अमर होते रहे, तो इन कलाओं की स्मृतियां धीरे-धीरे धूल-पुछ गई होतीं। कुछ व्यक्ति उन चित्रों और अभिलेखों द्वारा स्मृतियों में जीवित रहे जो व्यक्तिगत या सार्वजनिक इमारतों पर बने थे, जैसे कि एंपीथियेटर, स्नानागार, फव्वारे, मंदिर, स्तंभ, कोलोजियम, पिरामिड, मेहराबें, जलाशय, स्टेडियम, मकबरे। इनमें से अधिकांश जंगली बर्बरों द्वारा नष्ट कर दिए गए। मनुष्यों द्वारा बनाया कुछ भी नहीं बचा था सिवाय बाहरी ढांचे और नाम के।' इन सब प्राचीन इमारतों और इनके भव्य अतीत से इटली का और सीधा जन्मजात जुड़ाव था इसके अलावा उसकी भौगोलिक स्थिति, व्यापार तथा इतिहास भी उसे सिर्फ रोम से ही नहीं, ग्रीक की महान संस्कृति, कला, मेधा और स्मारकों से भी जोड़ते थे। ग्रीक के अतीत ने हमेशा ही रोम के सर्वश्रेष्ठ समझे जाने वाले युग को गहराई तक प्रेरित और प्रभावित किया था। ग्रीक और रोम के इस संयुक्त महान अतीत का संघात इटली के तत्कालीन वर्तमान पर हुआ और परिणाम में रैनेसाँ ऐसी एक चीज का जन्म हुआ।

रैनेसाँ के जनक माने जाने वाले इटली के साहित्यकार पेत्रार्क (1304-74) ने बहुत श्रम और संलग्नता से ग्रीक और रोमन साहित्य के खोए हुए खजाने की तलाश की। उनकी शैली या कि मॉडल की नकल की। 'सिसरो' और 'लिवि' उसके आदर्श थे। वह प्राचीन रोम की सड़कों, खंडहरों और उसके कानूनों में गहरी रुचि रखता था। पेत्रार्क का इटली पर गहरा प्रभाव था इसलिए यह सब, लगभग एक आंदोलन जैसा बन गया। इससे उत्साहित होकर इटलीवासियों ने अपने प्राचीन जगत को तलाशना शुरू किया। उन्होंने पुरानी मूर्तियों, लंबे समय से भूली हुई या लुप्त पांडुलिपियों को तलाशा। रोम को केवल पोप और चर्च की जगह न समझकर उसे दुनिया के उस विशाल और महान साम्राज्य की तरह देखा जो ऑगस्तस और वर्जिल का शहर था। जब चौदहवीं सदी के मध्य में तुर्कों के आक्रमण के कारण पूर्वी रोम या बाइजेंटाइन साम्राज्य बिखरना शुरू हुआ तब वहां से भागने वाले ग्रीक विद्वानों का इटली में स्वागत हुआ। ये ग्रीक विद्वान पुस्तकों, पांडुलिपियों के साथ ग्रीस के अतीत के प्रति अपना गहरा प्रेम और उत्साह भी साथ लाए थे। उनके पास हजार वर्षों तक फैली हुई सीखने की गंभीर ललक और परंपरा थी। वाद-विवाद, बहसों, सिंपोजियम, तर्कवाद के मानक उदाहरण थे।

उन्होंने इटली में भी एथेंस के प्लेटो जैसी अकादमी खोली। वहां प्राचीन शास्त्रीयता का ज्ञान दिया जाता था। इसी का असर था कि रैनेसाँ के लोगों ने 476 ई. में रोम के पतन के बाद का समय 'अंधकार युग' माना और उन लोगों को बर्बर, जिन्होंने रोम को नष्ट करके स्वयं को इसकी परंपराओं और विचारों से अलग कर दिया था।

रैनेसाँ के इस नए लेखन और नई कला शैली में मनुष्य की स्वतंत्रता और सौंदर्य की नई परिभाषाएं भी ढूंढी गईं। अपने सर्वोत्कृष्ट और प्रभावी रूप में ये चित्रकला और मूर्तिकला में दिखाई दीं। इन दोनों में मनुष्य का दैहिक सौंदर्य अपने चरम रूप में प्रस्तुत था। स्त्री और पुरुष की निर्वसन देहों की मांसलता, नग्नता, सौष्ठवता के साथ उनके चेहरों पर आत्मिक शांति, उल्लास और जीवन के यथार्थवादी, कठोर क्षण भी थे। इनमें मनुष्य देह के माध्यम से उसकी मुक्ति और अस्तित्व की सत्ता का घोष था। इनमें काया और माया, आत्मा और देह, धर्म और आवेग का संयुक्त प्रदर्शन था। इन दोनों कलाओं में से भी, चित्रकला ने युगांतकारी छलांग मारी थी। प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य, स्वतंत्रता, उल्लास पहली बार चित्रकला का विषय बने थे। राज्य और चर्च के नियंत्रणकारी, वर्चस्ववादी शक्ति केंद्रों से अलग इतिहास, जीवनियों और कलाओं में सामान्य मनुष्य को स्थान दिया गया। चित्रकला में इस परिवर्तन दिखने के दो बड़े कारण थे। पहला कारण तकनीकी ज्ञान था। इसमें रोशनी और छाया के कुशल प्रयोग के साथ मनुष्य शरीर की ऐसी जानकारी भी थी जो उसकी एक एक मांसपेशी को उभार सकती थी। दूसरा कारण था चित्र बनाने के लिए तेल की खोज और उसका बढ़ता प्रयोग। राफेल, माइकेल एंजेलो, लियोनार्दो द विंची, तिशन, रैनेसाँ की इस चित्रकला की पराकाष्ठा का प्रतीक हैं।

ऐसा भी नहीं हुआ कि रैनेसाँ का कलाकार किसी एक विधा या एक विशेषज्ञता तक ही सीमित रहा। आत्मविश्वास और उत्साह से भरे लोग ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में भी दखल दे रहे थे उनमें पारंगत हो रहे थे। लियोनार्दो द विंची वैज्ञानिक, चित्रकार, मूर्तिकार, गणितज्ञ और दार्शनिक भी था। सिंचाई की योजनाएं तैयार करने और उसके यंत्र बनाने से लेकर वह 'मोनालिसा' और 'द लास्ट सपर' तक काम कर रहा था। बेनवेनुतो चेल्लिनी ने दुनिया की पहली आत्मकथा लिखी। वह संगीतज्ञ, वास्तुशास्त्री, स्वर्णकार, योद्धा और चित्रकार था। मैकायवली इतिहास और राज्य शासन का ज्ञानी था। राजनीतिज्ञ था। उसने 'द प्रिंस' नाम से ऐसी पुस्तक लिखी जिसमें पुरानी राजनैतिक व्यवस्थाओं व सैद्धांतिकी को ध्वस्त करके एक नए राजा को गढ़ा गया था। यह राजा कहीं से भी दैवीय, पवित्र, नैतिक या जनरक्षक नहीं था। यह क्रूर, बर्बर, कुटिल, अनैतिक और हिंसक था। उसकी सफलता के लिए यही गुण वांछित थे। मैकायवली ने ही आने वाले सदियों के तानाशाहों और नीतेशे जैसे विचारकों को नई दिशा दिखाई। उसने अपने तर्कों व इतिहास के परिणामों से सिद्ध किया कि सिर्फ श्रेष्ठतम, उच्चतम व शक्तिशाली को ही जीने, शासन करने और स्वतंत्र रहने का अधिकार है। उस भीड़ को नहीं जो सिर्फ हांके जाने के लिए होती है। वास्तुशास्त्र में भी रोम और बाइजेंतियक शैली को अपनाते हुए एक नई शैली विकसित की गई। इसका केंद्र फ्लोरेंस बना। 1436 ई. के अनेक चर्चों में 'ब्रूनेल्लेस्की' के बनाए गुंबद इस नई शैली के उदाहरण हैं।

इस तरह रैनेसाँ की लगभग तीन पूरी सदियां उथल-पुथल भरी, संघर्षपूर्ण और सृजनात्मकता की सदियां थीं। जैसा कहा गया, इसका एक बड़ा कारण यह था कि इटली के पास नई पूंजी थी।

इस नई पूंजी के अपने नए मनुष्य थे। इनमें राजा, बैंकर्स, महाजन, व्यापारी, भूस्वामी और चर्च के पोप भी थे। ये कलाकारों को संरक्षण देने और इनकी कलाकृतियों को अपने स्वामित्व या कि संग्रहालय में रखने के लिए आपस में मुकाबला करते रहते थे। कलाकार भी उधर ही जाता था जिधर वह अधिक धन, सुविधा और योग्य संरक्षक देखता था। यहां पर एक महत्वपूर्ण बात उभरकर सामने आती है कि रैनेसाँ की लगभग तीन पूरी कला शताब्दियां उस राज्य, धर्म और पूंजी पर आश्रित थीं जो मनुष्य को सीमित स्वतंत्रता और अधिकार देते हैं या फिर देते ही नहीं हैं। उस समय की दूसरी स्थितियां या उनके अध्ययन के परिणामों से अलग, यह एक सच था कि राजा, पोप और धनी घरानों ने ही कलाकारों को धन, सम्मान व काम करने की सुविधाएं दीं। इनके बनाए विराट चित्र, मूर्तियां और इमारतें या तो चर्च में हैं या फिर महलो में। नगरों के सार्वजनिक स्थलों की कलाकृतियां भी इन्हीं के संरक्षण में बनीं बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि कला के इतिहास में शायद ही कभी इतने बड़े स्तर पर, इतनी अधिक संख्या में कलाकारों का पहले या बाद में इतना सम्मान हुआ हो। वसारी की लिखी लगभग दो सौ समकालीन कलाकारों की जीवनियां इसका प्रमाण हैं। लियोनार्दो द विंची और माइकेल एंजलो का सम्मान, लोकप्रियता और वर्चस्व देखकर आश्चर्य होता है। सम्राट भी इनसे दबते थे चर्च और धनी परिवार भी। जब लियोनार्दो अंतिम दिनों में बीमार था, तब राजा उसे देखने आता था। वसारी ने लिखा है 'राजा, जिसने उसके पास अकसर आने को अपनी आदत बना लिया था, आया। उसके सम्मान के लिए लियोनार्दो द विंची उठ कर बिस्तर पर बैठ गया, उसे अपनी बीमारी और उसके लक्षणों के बारे में बताने के लिए और वही बात दोहराते हुए कि उसे अपनी कला के साथ जो करना चाहिए था, वह न करके उसने ईश्वर और दुनिया के मनुष्यों को बहुत आहत किया है। वह अपनी आने वाली मृत्यु की अंतिम स्थिति में था। राजा उठा। उसकी मदद करने के लिए, अपनी सहानुभूति दिखाने के लिए और उसका दर्द कम करने के लिए, उसने उसका सर थाम लिया। लियोनार्दो की दैवीय आत्मा, जो इस बात के प्रति जागरूक थी कि वह इससे बड़ा सम्मान प्राप्त नहीं कर सकती, पचहत्तर वर्ष की आयु में उस राजा की बांहों में खत्म हो गई।' माइकेल एंजलो की प्रतिभा उसके जीवनकाल में और मृत्यु के बाद भी सराही जाती रही। सर्वोच्च सत्ता वाले अनेक पोप हमेशा उसे अपने पास रखना चाहते थे। तुर्की का सुलेमान, फ्रांस का राजा, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट चार्ल्स और मेदिची परिवार हमेशा उसे बड़ी तनख्वाहों पर अपने पास रखना चाहते थे। माइकेल एंजलो की मृत्यु के बाद उसकी अंत्येष्टि का आयोजन, उसमें शामिल असंख्य लोग, उसके अंतिम दर्शनों के लिए रखा गया शव, समस्त इटली के कलाकारों की उपस्थिति, राजकीय शोक, हमारे आज के बहुत से कलाकारों के लिए परीकथाओं जैसा अविश्वसनीय होगा।

अब यहां एक बेहद जरूरी प्रश्न या कि बहस के लिए पूरा स्पेस है, कि क्या किसी भी समाज या राज्य में कला तभी उनमुक्तता, सहजता और उत्कृष्टता के साथ विकसित होती है जब उसे धर्म, राज्य या पूंजी का आश्रय मिले? इसी के साथ अगला प्रश्न पैदा होता है कि क्या कला का कोई जनपक्ष भी होता है? खास तौर से दर्शनीय कलाओं, जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, नाटक, नृत्य, संगीत आदि का? हालांकि वाल्तेयर ने पहली बार इतिहास, कला और जीवनियों को राज्य के खांचों से मुक्त करके लोक जीवन से जोड़ा था, फिर भी कला के जनपक्षीय उपयोग, प्रयोजन और रचनात्मकता की बात मार्क्स से पहले इतने तर्कपूर्ण और तथ्यात्मक ढंग से नहीं हुई थी। यहां से

एक बड़ी और जरूरी बहस की शुरुआत होती है, पर हम इसे यहां भविष्य के लिए छोड़कर अपने दूसरे खंड में प्रवेश करते हुए, रैनेसाँ को भारत के संदर्भ में देखते हैं पर इसके पहले जरूरी है कि हम यूरोपीय रैनेसाँ और भारतीय रैनेसाँ ऐसी किसी अवधारणा में फर्क समझ लें।

इटली और फिर यूरोप के लिए रैनेसाँ बहुआयामी प्रगति थी। इसमें समुद्रों को मथना, नए उपनिवेश बनाना, वहां से पहले व्यापारिक पूंजी फिर औद्योगिक पूंजी अर्जित करके अपना विकास करना शामिल था। यह उनके अपने देश और मनुष्य के लिए लंबी छलांग थी, एक महत्वपूर्ण विकास था। इसमें वैज्ञानिक, नए विचार, आविष्कार, दार्शनिक, चिंतन भी शामिल होते गए पर वे देश जो उपनिवेश बने थे, और इस शोषण का शिकार थे उनके लिए यह सब दूसरे अर्थ देता था। उनके लिए यह गुलामी थी, संसाधनहीन होना था, साम्राज्यवाद के अमानवीय शोषण का शिकार होना था। जो पश्चिम के लिए राष्ट्रवाद बनता था वह हमारे लिए घृणा की वस्तु थी। इसी क्रम में यूरोप ने अपनी भाषा, ज्ञान, साहित्य कलाओं को भी महानतम सिद्ध करने की प्रक्रिया में इन्हें उपनिवेशों पर थोपा। उनकी प्राचीन भाषा, धर्म, साहित्य के मनमाने अर्थ करके उन्हें स्वयं उसे गढ़कर दिया। बहुत धीरे से उन्होंने उनकी भाषा, धर्म और दर्शन को हीन सिद्ध करते हुए अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। प्राच्यवाद की थ्योरी यही सिद्ध करती है। अगर हम बहुत मूल प्रश्न पर लौटें कि भारत में अंग्रेजों ने जिनसे संस्कृत ज्ञान प्राप्त करके यहां की पुस्तकों का अध्ययन किया वे कौन थे, तो हमें बहुत से चौंकाने वाले नाम मिलेंगे। क्या वे स्वयं संस्कृत जानते थे? क्या उनके पास मूल अपरिवर्तित ग्रंथ थे? क्या वे उनका उचित भाष्य कर सकते थे? क्या वे अंग्रेजों को उनकी भाषा में यह सब संप्रेषित कर सकते थे? नहीं, यह संभव ही नहीं था। लिहाजा यहां फिर एक बहस, एक प्रश्न जन्म लेता है, और हम फिर उसे भविष्य के लिए छोड़कर आगे बढ़ते हैं।

हमने माना है कि एक वर्तमान अपने महान अतीत की तलाश करता है उसे पुनर्निर्मित करता है या उसे अपना आदर्श मानकर वैसा बनना चाहता है। वह ऐसा क्यों करता है? क्या आधुनिक मूल्य या विचार उसके लिए पर्याप्त नहीं होते? उसे संतुष्ट नहीं करते? उत्तेजित या प्रेरित नहीं करते? उसका अतीत, जो अकसर उससे बहुत दूर जा चुका होता है, वह उसके अंदर से कुछ सिद्धांत, दर्शन, धर्म, पुस्तकें, गौरव हूँद कर क्यों अपने को गर्वीला महसूस करता है? यदि हम थोड़ी सूक्ष्मता से परीक्षण और विश्लेषण करें, तो हम समझ लेंगे कि वास्तव में वह एक प्रच्छन्न राष्ट्रवाद के आवेग या उल्लास में ऐसा करता है। उसे अपने राष्ट्र से प्रेम होता है और यही आवेग उसे अपने महान जनक तक पहुंचने को प्रेरित करता है। किसी 'महान जनक' की अनुपस्थिति में उसे अपना वर्तमान धूसर लगता है- लगभग अज्ञात माता-पिता के पुत्र की तरह। यह राष्ट्रवाद उसे जितना पीछे ले जाता है, वह उतना ही संतुष्ट होता है। इतना कि वह पीछे लौटते हुए मनुष्य को सभ्य बनाने वाले समाजों के जन्म तक का दायित्व भी ले लेता है, बल्कि सृष्टि के जन्म का भी। मनुष्य प्रजाति के आदि स्त्री पुरुष भी उसके अपने ही होते हैं। यह देखने के लिए हमें दूर जाने की जरूरत नहीं है। हम किसी भी राज्य, समाज में ऐसे चिह्न पा सकते हैं जो सृष्टि के जन्म, मनुष्य के विकास, कलाओं की उन्नति का कारण या मूल अपने वर्तमान के अतीत को ही मानते हैं।

इस तरह भारत ने या अन्य उपनिवेशों ने अपना जो 'रैनेसाँ' गढ़ा, या वहां जो 'नवजागरण' पैदा हुआ, वह उनके प्राचीन, अतीत, राष्ट्रवाद और आधुनिक चेतना से जुड़कर रैनेसाँ की तीनों शर्तें

तो पूरी करता था, पर वह निश्चित रूप से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ओर झुका था। उसे यह होना ही था क्योंकि यह प्रत्येक दृष्टि से अंग्रेजों के, यूरोप के साम्राज्यवाद के और इस तरह उनके रैनेसाँ के सीधे विरोध में जन्मा था और तना खड़ा था। ध्यान दें कि एक पराधीन राष्ट्र की सबसे बड़ी और आधुनिक चेतना राष्ट्रवाद ही होगी। इस तरह यूरोपीय रैनेसाँ के तीनों अनिवार्य तत्व होने के बाद भी भारतीय रैनेसाँ उसके विरोध में जन्मा था। जबकि उसका यूरोपीय रैनेसाँ से कोई सीधा लेना देना नहीं था।

अब यहां तक आते-आते हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जब भी हम किसी परिवर्तन के लिए रैनेसाँ शब्द का प्रयोग करेंगे, तो हमें उसमें उसके तीन आधार तत्व चाहिए होंगे, उन्हें तलाशना होगा। जहां ये तीनों तत्व मिलते हैं वहां उसे हम रैनेसाँ कह सकेंगे, वरना वह एक स्थानीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक नवजागरण या परिवर्तन मात्र ही कहा जाएगा। इसमें भाषा, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति समाज, समाहित हो सकते हैं। कभी संयुक्त रूप से या कभी कोई एक भी। इस तरह से जब हम देखते हैं तो भारतीय नवजागरण हिंदू नवजागरण से बहुत अलग नहीं हो पाता है। यहां अनायास हम एक सूत्र पर भी पहुंचते हैं जो आगे हमारे काम आने वाला है। वह यह कि उपनिवेश के रैनेसाँ को हमेशा 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' होना ही है और इसलिए स्वतंत्रता पूर्व भारत का कोई भी भारतीय नवजागरण 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की छाया में ही जन्मा था। यानी हम फिर दोहरा सकते हैं कि जो भी परिवर्तन था, जिसे हमने नवजागरण माना वह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद होना ही था यानी हिंदू नवजागरण ही होना था।

भारत में हम बंगाल नवजागरण के रूप में नवजागरण शब्द को मुख्य रूप से पहली बार सुनते हैं। इसे हिंदू नवजागरण या कि भारतीय नवजागरण के रूप में भी देखा जाता है। यदि हिंदी अनुवाद या इसके नामों पर न भी जाएं, तो भी, यह रैनेसाँ की तीनों शर्तों को पूरा करता था। एक महान अतीत, वर्तमान की आधुनिक चेतना तथा राष्ट्रवाद। राममोहन राय से ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, बंकिमचन्द्र, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद और रवींद्रनाथ टैगोर तक आते-आते बंगाल में बहुत साफ तरीके से, अलग और परिवर्तनकारी युग दिखने लगा था। अंग्रेजी पढ़ी जाने लगी थी। आधुनिक चिकित्सा सीखने के लिए ब्राह्मण ने मुर्दा काटना शुरू कर दिया था। सती प्रथा का विरोध शुरू हो गया था। समाचार पत्र निकलने लगे थे। भारतीय दर्शन, इतिहास और संस्कृति के नाम पर एक महान हिंदू अतीत को निश्चित स्वरूप में पुनर्गठित किया जाने लगा था। इसे पुनर्गठित करने वाले यूरोप की आधुनिक शिक्षा, चेतना, मूल्यों और परिवर्तनों से अच्छी तरह परिचित थे। तीनों तत्वों के पारस्परिक संघात से जन्मी यह बेचैनी, उत्तेजना और परिवर्तन कामना, बंगाल से शुरू होकर महाराष्ट्र फिर पंजाब और पूरे भारत में फैली जिसकी परिणति स्वतंत्रता में हुई। इस तरह यह भारतीय या कि हिंदू नवजागरण स्वतंत्रता पर पहुंचकर समाप्त हो गया पर यहां हम एक अत्यंत उलझी हुई स्थिति में भी पहुंच गए हैं। अकसर ही हिंदू नवजागरण या भारतीय नवजागरण या सिर्फ नवजागरण की बात करने वाले इस स्थिति या इन प्रश्नों से बचते हैं या इसे अनदेखा करते हैं पर हम इस पर बात करेंगे। ये प्रश्न हैं 'मुस्लिम, रैनेसाँ या नवजागरण के। किसी भी भारतीय नवजागरण में ये समाहित क्यों नहीं हैं?

1857 के विप्लव के बाद देश में बड़े परिवर्तन हुए। ये राजनीति, समाज, धर्म और आर्थिक

जगत के परिवर्तन थे। सबसे बड़ा परिवर्तन मुगल साम्राज्य और ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन का खत्म होकर इंग्लैंड का सीधा शासन होना था। अंग्रेजों से मुक्ति अब मात्र स्वप्न नहीं रह गया था। यह बहुत पास की चीज लगने लगी थी। 1857 के बाद एक उग्र राष्ट्रवाद ने धीरे-धीरे संगठित व निश्चित शक्ति लेनी शुरू कर दी थी इसका केंद्र बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब थे। इस राष्ट्रवाद के आसपास एक महान हिंदू संस्कृति का अतीत गढ़ा जा चुका था। 1885 में कांग्रेस के जन्म के साथ ही हिंदू और मुसलमान का एक बड़ा भेद पनपना शुरू हो गया था। सर सैय्यद अहमद मुसलमानों को कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीयता से दूर करके अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजों के नजदीक लाए। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अंग्रेज प्रिंसिपल ने इसमें सक्रिय और रणनीतिक भूमिका निभाई। समय के साथ धीरे-धीरे राष्ट्रवाद की चेतना के दो हिस्से हो गए। दुर्भाग्य से 1885 के बाद से ही हमने किसी भारतीय राष्ट्रवाद को न देखकर हिंदू राष्ट्रवाद और मुस्लिम राष्ट्रवाद ऐसी किसी चीज को देखा जो हिंदू और मुसलमान 1857 में एकजुट थे, अब दो अलग अस्मिताओं, इतिहास, परंपराओं, नायकों, राष्ट्रीयताओं, समाजों और धर्मों की अपनी-अपनी जमीन उर्वर बनाने में जुट गए थे। ऐसा क्यों हुआ? क्यों ये दो राष्ट्रवाद अलग थे या क्यों एक नहीं हो सके? यहां से हम 'राष्ट्रवाद' का न करके इसके उच्चतम रूप नवजागरण शब्द का प्रयोग करेंगे। हिंदू नवजागरण के बारे में हम बात कर चुके हैं या करते रहे हैं, पर मुस्लिम नवजागरण या पुनर्जागरण पर हमने कभी बात नहीं की। यह क्या था? कभी कोई मुस्लिम नवजागरण हुआ या नहीं? भारत में यदि कोई मुस्लिम नवजागरण था तो कौन उसके वाहक थे? कहां से शुरू होकर कहां तक गया? या फिर मुस्लिम राष्ट्रवाद, अतीत और आधुनिकता की परिणति पाकिस्तान के जन्म में थी? इटली और यूरोप और पूरी दुनिया में बड़ा परिवर्तन कभी न कभी हुआ, पर भारत के मुसलमानों या कि दुनिया के किसी हिस्से के मुसलमानों में ऐसा क्यों नहीं हुआ? हुआ तो कब, कहां?

इन सवालों पर बात करने से हम सामान्यतः बचते हैं पर हम इनका उत्तर ढूंढने की कोशिश करेंगे और इसके लिए हम थोड़ा पीछे लौटेंगे। भारत में गुप्त साम्राज्य अंतिम वृहद सार्वभौम हिंदू साम्राज्य था। उसके पतन के बाद का इतिहास छुटपुट हिंदू राजवंशों, (हर्ष को चाहे तो अलग कर दें) का इतिहास है जो एक तरह से अपनी आंतरिकता में जर्जर सामंतवाद ही रहा। भारत के बाहर इस्लामी जगत में उम्मैया और अब्बासी वंशों के पतन के बाद अरब साम्राज्य का भी यही स्वरूप बना। लगभग 400 वर्षों तक विश्व के वृहद्दतम व समृद्धतम साम्राज्य को रचने के बाद अरब साम्राज्य भी छोटी-छोटी सल्तनतों और सामंतों में बंटता चला गया। भारत में जब महमूद गजनवी के साथ इस्लाम आक्रामक रूप में पहली बार भारत आया, तो वस्तुतः यह दो बड़े साम्राज्यों का संघात या संपर्क न होकर छोटे-छोटे सामंतों के क्षेत्रीय संघर्षों का संघात था। बाद में जो मुसलमान भारत में आए और फिर यहां रह गए, उनके साथ अरब साम्राज्य व इस्लाम की विकसित परंपराएं न आकर, छोटे-छोटे सामंतों की क्षेत्रीय कट्टरता, स्वार्थ व हिंसा आई थी। भारत में जो हिंदू राजवंश बचे थे, उनके पास भी किसी बड़े साम्राज्य या विकसित समाज की परंपरा या इतिहास की स्मृतियां नहीं थीं, बल्कि छोटे-छोटे जातिगत अहंकार व क्षेत्रीयता के संघर्ष थे। इस तरह भारत में दोनों धर्मों व दम तोड़ती सभ्यताओं का प्राथमिक संपर्क इस तरह नहीं हुआ जिसमें एक के अंदर दूसरे के समाहित होने की संभावना होती है। खंड-खंड अस्मिताओं व स्वार्थों के साथ दोनों का मिश्रण हुआ और परिणाम में

न तो कोई बड़ी विचारधारा पनपी, न साम्राज्य और न ही राष्ट्रीय दृष्टि ।

सन् 1193 से 1526 के बीच दिल्ली की गद्दी पर करीब 35 सुल्तान बैठे जो कम से कम पांच राजवंशों के थे । इनमें से प्रत्येक वंश इस्लाम का अनुयायी था और प्रत्येक वंश दूसरे मुस्लिम वंश द्वारा ही गद्दी पर से हटाया गया । 35 सुल्तानों में से कम से कम 19 की हत्याएं हुईं जो किसी हिंदू ने नहीं बल्कि मुसलमानों ने ही की थीं । इसके बाद मुगलवंश का इतिहास पुनः भाइयों के कत्लों का इतिहास है । अन्य प्रांतों के मुस्लिम सामंतों या वंशों के विद्रोह और उनमें आपसी युद्ध का अलग इतिहास है, दूसरे शब्दों में यह मुसलमानों के सत्ता के आपसी संघर्ष, क्षेत्रीयता और विभिन्न वंशों के आपसी झगड़ों, हत्याओं से जुड़ा है न कि 'इस्लाम' के प्रवर्तन विस्तार या 'राजनीतिक दर्शन' से, अथवा हिंदू व मुसलमान के संघर्ष से ।

इस्लाम की खुली मानसिकता व उदार राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध भारत में जो मुस्लिम आक्रांता आए, वस्तुतः वे इस्लाम का भ्रष्ट संस्करण थे । मुहम्मद साहब के बाद के 400 वर्षों में जो विकसित, बौद्धिक, विराट अरब साम्राज्य फैला था उसे मंगोलों ने 40 वर्ष के अंदर छिन्न-भिन्न कर दिया था । पूरा इस्लामी जगत टुकड़ों में, वंशों में, कबीलों में, लुटेरे और सिद्धांतविहीन क्षेत्रीय अधिनायकों में बंट गया था । इन्होंने ही भारत में प्रवेश किया था । महमूद गजनवी इसका आरंभ व प्रतीक था । इन छोटे-छोटे कबीलों, बादशाहों और भाड़े के सिपाहियों का न तो कोई राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य था, न इनमें किसी विशाल साम्राज्य के नागरिक होने का अनुशासन था, न नियमबद्ध समाज की परंपराएं थीं । तलवार और शासन उनका एकमात्र संबल था । ये इस्लाम की दार्शनिकता, बौद्धिकता, मर्म और उसके ज्ञान से पूरी तरह वंचित थे । इन बाहरी आक्रांताओं के अलावा परिवर्तित मुसलमानों का एक बहुत बड़ा वर्ग भी भारत में तैयार हुआ । भारत में धीरे-धीरे यह वर्ग बहुत बड़े वर्ग में विकसित होता रहा । इस वर्ग के अपने संकट थे । एक तरफ उनकी अपनी स्थानीयता थी जिसमें वे पले थे, बड़े हुए थे, तो दूसरी तरफ उनकी आस्था थी जिसका सब कुछ अरब में था । विदेशी मुसलमान अपने साथ स्त्रियां व संतानें नहीं लाए थे । इस तरह धर्म परिवर्तन से, संतति से, विदेश की विभिन्न राष्ट्रीयता वाले इस्लाम के मिले-जुले स्वरूपों के घालमेल से, एक अजीब तरह का इस्लामी शासन भारत में फैला । अलग-अलग स्तरों पर यह अलग-अलग तरीकों से देश के मूल निवासियों से जुड़ा था । मुगल शासकों ने यह नीति रखी थी कि दोनों धर्म समानांतर चलें । उन्होंने हिंदुओं की आंतरिक धार्मिक व सामाजिक संरचना में कोई हस्तक्षेप नहीं किया पर स्वयं अपने लिए उन्होंने कट्टर तरीके के इस्लाम को अपनाए रखना ही अपने शासन के लिए उपयुक्त समझा । इस तरह जो मिश्रित सभ्यता उत्पन्न हुई वस्तुतः वह दोनों के खंडित अंशों का मिश्रण था न कि दोनों के प्राचीन साम्राज्यों की परंपराओं, संस्कृति, भाषाओं और विचारों का गहनतम मिश्रण था । जड़ में वे अलग थे पर ऊपर जाकर आपस में दो वृक्षों की मिली शाखाओं की तरह हो गए थे । इस मुस्लिम वर्ग के पास इसलिए न तो राष्ट्रवाद ही कोई अवधारणा कभी न पनपी और न ही इसे अपने अल्पसंख्यक होने का कभी बोध हुआ, क्योंकि यह कभी सत्ता से हटा ही नहीं । 1857 की पराजय ने इसे अचानक वहां फेंक दिया जहां ये दोनों नई स्थितियां उसके दोनों ओर खड़ी थीं । हिंदू जब अपने धर्म की बात करता था तो राष्ट्र उसमें स्वयं ही समाहित हो जाता था । इतिहास, परंपराएं, भूगोल, समाहित रहते थे । उसका धर्मयुद्ध उसे राष्ट्रवाद में बदल देता था । दूसरी तरफ जब मुसलमान अपने धर्म की बात करता

था तो राष्ट्र उसमें नहीं दिखता था। यहां का इतिहास, यहां की परंपराएं, नायक नहीं दिखते थे। उसका धर्मयुद्ध राष्ट्रवाद न होकर सांप्रदायिक व 'अन्य' की सत्ता में बदल जाता था। इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद के उभार में हिंदू सक्रिय व सुरक्षित था पर मुसलमान संकट में, द्वंद में था। उसके किसी नेता के पास, उसकी किसी पुस्तक में, इतिहास में, ऐसी स्थितियों के लिए स्पष्ट निर्देश नहीं थे कि जब सत्ता इस्लाम की न हो, तब संघर्ष इस्लाम की स्थापना का किया जाए या राष्ट्रवादी चेतनाओं की स्थानीयताओं, विरोधी धर्म और निष्ठाओं से जुड़कर उनके लिए संघर्ष किया जाए। भारत के मुसलमानों के लिए यह नया संकटपूर्ण पड़ाव था।

भारतीय मुसलमानों के लिए एक दूसरा संकटपूर्ण पड़ाव यह था कि 1857 की असफलताओं के बाद बदली हुई परिस्थितियों में वह खुद को नए तरह के अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में पा रहा था। अल्पसंख्यक वह पहले भी था, पर वह तब राजनीतिक शक्ति व सत्ता का केंद्र था। अब वह सत्ताहीन और पराजित था। मुस्लिम धर्म, समाज व राजनीति में भी मुस्लिम अल्पसंख्यक ऐसी कोई अवधारणा नहीं है। उसकी समग्र संरचना इसी आधार पर है जब इस्लाम ही स्थितियों का संचालक है, नियंता है। अल्पसंख्यक मुस्लिम समाज कैसे किसी बहुसंख्यक समाज में लचीलेपन व सहयोग के साथ रह सकता है इस संदर्भ में न तो कोई स्पष्ट निर्देश हैं न इसके ऐतिहासिक उदाहरण हैं। ऐसा इसलिए है कि इस्लाम की उत्पत्ति मूलतः कबीलाई संगठन के रूप में हुई, तलवार से वह फैला और अपने गहरे अंतर्गुम्फन, एकनिष्ठ कट्टरता और निर्विवाद संरचना के बल पर बना रहा। उसमें किसी तरह के समायोजन या मध्यमार्ग की संभावना नहीं थी। उसकी पूरी संरचना के गुच्छे से किसी को स्वतंत्र रूप से अलग नहीं किया जा सकता। इस्लाम का इतिहास दिखाता है कि धर्म और जीवन पद्धति में वह केवल तभी प्रभावी और उन्नत हो सकता है जब उसके पास राजनीतिक शक्ति व सत्ता हो, इसके अनुयायी का राज्य पर नियंत्रण हो। जब और जहां उन्होंने ऐसा नहीं पाया कि वे शक्ति का केंद्र हैं, तब वहां उन्होंने खुद को असहाय, कठिन व संकटपूर्ण परिस्थितियों में पाया है।

अकबर, वलीउल्लाह, सर सैयद अहमद, इकबाल, जिन्ना भारतीय मुस्लिम जगत के शिखर पुरुष हैं। भारतीय इतिहास में इन्हें किसी न किसी दृष्टि के अंतर्गत, किसी न किसी रूप में, राष्ट्रीय चेतना के प्रतीकों के रूप में भी देखा जाता है। इनकी राष्ट्रीय चेतना से हमारा आशय, हिंदू मुस्लिम विघटनवादी प्रवृत्तियों से अलग एक विराट राष्ट्रीय परिदृष्टि जिसमें भारत समाहित था, है। भारत में इनकी छवि लगभग ऐसे क्रांतिकारी मुसलमानों के रूप में प्रस्तुत की जाती है जो अपने समय के सर्वाधिक प्रभावी व्यक्ति थे। इनमें इस्लाम अपनी उदारतम व्याख्याओं व स्वरूप के साथ व्यक्त होता है, जिन्ना को छोड़कर क्योंकि वह मूलतः अधार्मिक थे। ये व्यक्ति इस्लाम को उसकी मौलिक शिक्षाओं के निकटतम अर्थों में देखते थे। ये अपने समय में प्रगतिशील थे। इस्लाम व मुस्लिम समाज में पुनर्जागरण पैदा करने वालों की भूमिका में थे। अकबर का सुलहकुल, वलीउल्लाह का कुरआन व इस्लाम का दार्शनिक विवेचन, सैयद अहमद का 'भारत की दुल्हन की हिंदू मुस्लिम दो आंखें' इकबाल का 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' और जिन्ना का निर्विवाद राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय लक्ष्य व तिलक व गोखले पर श्रद्धा, इन सबको विशिष्ट रूप से अलग करते हैं पर जब कभी इस्लाम राज्य, सत्ता, राजनीति के संदर्भ में आता था, तब ये नाम भी प्रश्नों के घेरे में आ जाते हैं।

मुस्लिम राष्ट्रवादी, जो पाकिस्तान के जन्म के समर्थक हैं, इसी को सैयद अहमद का महत्वपूर्ण

योगदान मानते हैं कि उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षित व दीक्षित करके हिंदू आधिपत्य से मुक्ति की राह दिखाई। मुसलमानों के अल्पसंख्यक होने की स्थिति सैयद अहमद को अस्वीकार्य थी, और मात्र बहुसंख्यक होने के कारण हिंदू वर्चस्व अस्वीकार था। उनका भय बड़ा था, जो संभव है, भविष्य में सच भी हो सकता था क्योंकि अल्पसंख्यकों के लिए बहुसंख्यक हमेशा आक्रामक, अन्य व भय पैदा करने वाले होते हैं। उनको ये उसी तरह देखते हैं जैसे विदेशी शासन को। उसी तरह की प्रतिरोधी भावनाएं अपने अंदर गढ़ लेते हैं। यह भय व प्रतिरोधी भावनाएं अल्पसंख्यकों को अपनी कट्टरता के गहरे तीव्र आवेग के साथ, अपनी परंपराओं, धर्म, सामाजिक संरचना व प्रतीकों के प्रति निष्ठापूर्ण समर्पण के साथ, उन्हें बहुसंख्यक के विरोध में कठोर बनाए रखता है। वे किसी लचीलेपन को स्वीकार नहीं करते। किसी भी तरह का लचीलापन या अपनी किसी भी पुरातनता से विचलन, उन्हें स्वयं पर आक्रमण व अपना अपमान लगता है। ये अल्पसंख्यक अलग बस्ती के रूप में, अलग शक्ति के केंद्रों व अवधारणाओं के जनक होते हैं। बहुसंख्यक का राष्ट्रवाद इनका राष्ट्रवाद कभी नहीं बन पाता। ये उसके प्रति तटस्थ या उदासीन होते हैं। कालांतर में बहुसंख्यक इस अल्पसंख्यक को इसलिए बाहरी या अनिवार्य विवशता की तरह मानता हुआ घृणा से देखने लगता है क्योंकि उसका राष्ट्रवाद अल्पसंख्यकों का राष्ट्रवाद नहीं होता। विशेष रूप से वे बहुसंख्यक, जो स्वयं भी अपनी संरचना में उसी कट्टरता का पोषक होते हैं। 1857 के बाद के भारत का अल्पसंख्यक मुसलमान इसी भय व शंकाओं में जीने लगा था और इसीलिए हिंदुओं से अलग वह अपना एक अलग नवजागरण विकसित कर रहा था। उसका भारतीय अरबी व अंतरराष्ट्रीय गौरवशाली अतीत इस नवजागरण का मुख्य प्रेरक था। उसकी पुनर्स्थापना, इसका स्वप्न था।

1857 की पराजय के बाद मुसलमान के दो मजबूत स्तंभ, सत्ता और इस्लाम पर प्रश्नविहीन आस्था में एक स्तंभ सत्ता ढह चुका था। दूसरा स्तंभ यानी वह प्रश्नविहीन आस्था वहाबी, देवबंद व पैन इस्लामिज्म से होती हुई अंततः एक अलग राष्ट्रीयता में जाकर समाप्त हुई। इस तरह भारत के मुसलमानों के पास रैनेसाँ के तीनों तत्व नहीं बचे थे। भारत के संदर्भ में न कोई महान अतीत, न राष्ट्रवाद और न स्वतंत्रता या अन्य सामाजिक आधुनिक मूल्य। इसलिए उनके बीच किसी नवजागरण की संभावना नहीं थी। ये तीनों तत्व आज भी भारतीय मुसलमानों में संभव नहीं हैं इसलिए हमें कहीं कोई मुस्लिम नवजागरण नहीं दिखता। यदि यही स्थिति बनी रही तो भविष्य में भी इसकी कोई संभावना नहीं होगी।

अब हम अपने तीसरे और अंतिम खंड यानी अपने वर्तमान में प्रवेश करते हैं। मूल रैनेसाँ के चुने हुए हमारे तीनों तत्व आज संभव नहीं हैं। हमारा राष्ट्र और इसका वर्तमान अब देशकाल की सीमाओं से परे जा चुका है। राष्ट्र की अवधारणा वैश्विकता में समाहित हो चुकी है। आधुनिक मूल्य भी अब वैश्विक होते हैं, राष्ट्रीय या स्थानीय नहीं। हमारी स्वतंत्रता भी अब संदिग्ध है। यदि हम पूरी दुनिया पर सतर्क नजर डालें तो हम देखेंगे कि हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण की निगरानी हो रही है। अप्रत्यक्ष रूप से हम प्रत्येक स्तर पर नियंत्रित किए चुके जा चुके हैं। एक अदृश्य 'हे जिमनी है' जो मैकायवली के तर्कों से पूरी तरह जुड़ती है। 'अरब देशों के बसंत उभार' का सच या कि एडवर्ड स्नोडन का पूरी दुनिया में शरण के लिए भागना हमारे समय की सच्चाई है। राज्य, पूंजी, भाषा, हथियार, तकनीक, सूचना के दैत्य हमारे 'मनुष्य' की अस्मिता या 'इंडिविजुएलिटी' को निगलने के

लिए हमें हथेली पर उठा चुके हैं। वही मनुष्य, जिसने रैनेसाँ की पहचान के रूप में लगभग सात सौ साल पहले इनके विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता का, मुक्ति का संघर्ष शुरू किया था। आज हमारे मनुष्य को फिर एक बड़े परिवर्तन या नवजागरण या रैनेसाँ की जरूरत है पर हमारे पास इसके आवश्यक तीनों तत्व अनुपस्थित हैं। हमारे पास न कोई महान अतीत है, न कोई प्रच्छन्न राष्ट्रवाद और न वर्तमान की कोई आधुनिक चेतना न प्रगतिकामी मूल्य। तो? हम क्या करें? क्या होगा? यदि अर्नाल्ड टायन्बी के सभ्यताओं के विश्लेषण को आधार मानें, तो एक असृजनशील समाज की ये स्थितियां एक त्राता के आगमन की हैं और यह त्राता निश्चित रूप से तलवार से सज्जित होगा। ध्यान देना चाहिए कि तलवार से सज्जित त्राता अपने साथ किसी नवजागरण को नहीं लाता। वहां कोई प्रगतिशील, मनुष्य समर्थक चेतना विकसित नहीं होती, कोई रैनेसाँ जन्म नहीं लेता। बहुत अधिक ध्यान दें, कि त्राता एक नए युग का वायदा करता है। अपने साथ वह रैनेसाँ के तीनों तत्व भी लाता दिखता है। मुसोलिनी के पास अतीत के रूप में ऑगस्ट्स का रोम था, समाजवाद की आधुनिक चेतना थी, राष्ट्रवाद था। हिटलर के पास आर्य संस्कृति थी, समाजवाद की आधुनिकता थी और राष्ट्रवाद था। फ्रेंको के पास अतीत के रूप में साम्राज्यवादी स्पेन था, आधुनिकतम सैन्यशक्ति थी और राष्ट्रवाद था। तीनों देश बिखरे, टूटे, आंतरिक संघर्षों और एक स्थायी ठहाराव में चले गए थे। तीनों ने अपने देश में नए युग का, नए स्वप्नों का वायदा किया था। वे अपने देश के त्राता दिख रहे थे पर ऐसा हुआ नहीं। ऐसा होता भी नहीं। नवजागरण के आवरण में वहां एक दूसरा अंधकार रचा जा रहा होता है। वहां मनुष्य को वह मुक्ति नहीं मिलती, वह अस्मिता, वह स्वतंत्रता नहीं मिलती जो उसके अस्तित्व को, स्वप्नों को आकांक्षाओं को पंख दे। विस्तार दे, कोई बड़ा आकाश दे! वहां सब कुछ गर्दनों पर लटकती तलवार की धार के नीचे होता है। समाज या सभ्यताएं इसके बीच अकसर भ्रम में पड़ जाती हैं और गलत राह पर चल देती हैं। हमें यह तलवार दिखती नहीं पर इसका आतंक, इसकी 'हेजिमनी' की धार होती है। किसी भी मुक्ति, विरोध या परिवर्तन के स्वर को बर्बरता से दबा दिया जाता है। स्पार्टकस से एडवर्ड स्नोडन तक हजारों सालों से भौंचक्के हो हम यह देख रहे हैं। टायन्बी ने सभ्यताओं के विकास में इसे एक अनिवार्य स्थिति माना है। हम आज फिर भी वही खड़े हैं। रैनेसाँ या फिर एक गहरा अंधकार युग, इनमें से कोई एक ही हमारा भविष्य है। सिक्के के अब यही दो पहलू हैं। हमारे अरचनात्मक, असृजनशील, स्वप्नविहीन वर्तमान का सच फिलहाल गहरी अनिश्चितता है। हवा में सिक्का उछाला जा चुका है। इसके एक ओर मनुष्य की आंतरिकता का आलोक है, मुक्ति के स्वप्न हैं, दूसरी ओर भविष्य में गहरे तहखाने में बंद की जाने वाली हमारी अस्मिता की चेतना है।

हम सब बेचैनी और उत्सुकता से हवा में तैरते सिक्के के नीचे आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।



विवेकानंद और गांधी : अध्यात्म व राजनीति का विरल संयोग

मनोज कुमार राय

भारतीय आर्ष-चिंतन ऋषि-प्रसूत है। यही कारण है कि इस देश में हमेशा से ही ऋषियों/संतों को सुना-गुना गया है। जब-जब इस देश पर संकट आया है भारतीय मनीषियों ने अपने चिंतन से न केवल उसे समृद्ध किया बल्कि 'अभय' होने में भी मदद की है। 19वीं सदी भारत के लिए कई मायनों में महत्वपूर्ण है। इस समय भारत पर एक खास किस्म का संकट था। भारतीय अस्मिता (व्यक्तित्व) नदी में डूबते बच्चे की भांति अपनी अंतिम सांस ले रही थी। चारों तरफ गहरी हताशा छाई हुई थी। भारत जो कभी अपनी स्पंदनमान संस्कृति (vibrant culture) और धनी सभ्यता (Reach culture) के कारण विश्वगुरु कहा जाता था, अपनी चमक खो चुका था। अब वह दया का पात्र बन चुका था। कभी वेद-उपनिषद् और तर्क शास्त्र पर भरोसा रखने वाला भारत अंधविश्वासों, रूढ़ियों, जातियों, प्रतिबंधों, मुझे मत छूओ आदि के भंवर में फंस चुका था। ईसाई मिशनरियां अपने खतरनाक इरादों के साथ भारतीय आकाश पर गिद्धों की भांति मंडरा रहीं थी। भारत विश्व-अदालत में अपना मुकदमा लगातार हारता जा रहा था। इसके पीछे सबसे बड़ा कारण था उसका आत्मविश्वास खोना। ठीक ऐसे समय पर उसके त्राण के लिए विश्व-अदालत में चार वकील उसका पक्ष रखने के लिए सामने आते हैं-विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ, आनंद कुमारास्वामी और गांधी। पहले ने उसकी दार्शनिक महिमा को सामने रखा, दूसरे ने साहित्यिक महिमा को, तीसरे ने कलात्मक गरिमा को और चौथे ने भारत की आत्मा को। (पत्रमणिपुतुल के नाम : कुबेरनाथ राय, पृ. 34) अर्थात् इन चारों ने मिलकर न केवल भारतीय अस्मिता की रक्षा की अपितु उसे ऊंचे धरातल पर प्रतिष्ठित भी किया। परिणामतः भारत की एक बार पुनः धाक जमनी शुरू हुई।

वर्ष 1893 भारतीय इतिहास का अद्भुत पन्ना है। अगर हम इसे पलटें तो हमें आश्चर्यजनक घटनाएं दिखती हैं। एक तरफ विवेकानंद शिकागो में अपना परचम लहराते हैं तो दूसरी तरफ एक 24 वर्षीय युवक समुद्री जहाज पर रोजी-रोटी की तलाश में समुद्र की अनंत दूरी को अपने में समेटने का प्रयास कर रहा था। ऐनी बिसेंट भारत पर मुग्ध होकर यहीं की होने आई तो अरविंदो अपनी पढ़ाई-लिखाई पूरी कर अपने देश लौट आए। महान पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे प्रायः अपने जीवन के आध्यात्मिक प्रश्नों का समाधान प्राप्त होने पर ही जीवन के अन्य क्षेत्रों में पदार्पण करते हैं। ईसा ने शत्रु पर भी प्रेम की बात कही। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त होने पर मैत्री और करुणा

की बात कही। गांधी ने 'अंतरात्मा की आवाज' की बात कही और विवेकानंद ने गुरु के 'अंतरंग वृत्त' में प्रवेश करने के बाद अपनी बात सुनाई।

विवेकानंद और गांधी के व्यक्तित्व में बड़ा मजेदार साम्य है। एक संन्यासी-योद्धा था तो दूसरा योद्धा-संन्यासी। एक राजसी व्यक्तित्व और ओजस्वी वक्तृता का धनी था जिसने दुनिया के समक्ष वेदांत का परचम लहराया तो दूसरे अधनंगे फकीर ने अपनी शांत और निभृत आवाज के द्वारा एक अद्भुत सिद्धांत 'सत्याग्रह' का आविष्कार किया और भारत को मुक्ति का रास्ता दिखाया। एक को दुनिया ने 'स्वामी' नाम से पुकारा तो दूसरे को 'बापू-महात्मा' के नाम से।

दोनों मनीषियों का जन्म 19वीं सदी के छठे दशक में हुआ था। नरेन का जन्म एक उच्च शिक्षित शैव परिवार में हुआ था। पिता उच्च न्यायालय में कार्यरत थे और माता भी पढ़ी-लिखी धार्मिक संस्कारों वाली महिला थीं। नरेन पर माता का प्रभाव ज्यादा पड़ा। माता ने शिव का मंत्र भी दिया। मजबूत कद-काठी के धनी नरेन को संगीत, अध्यात्म, विज्ञान, खेल-कूद आदि विषयों में गहरी रुचि थी। वे किशोरावस्था में ही परिव्राजक संन्यासी बनने का सपना देखने लगे थे। दूसरी तरफ छह वर्ष छोटे मोहन को इन विषयों में कोई खास रुचि नहीं थी। पिता पढ़े-लिखे थे जबकि माता धार्मिक महिला थीं। धाय मां ने इन्हें राम का मंत्र दिया था। शरीर से दुबले-पतले मोहन स्कूल से मौका मिलते ही घर की तरफ दौड़ जाते थे। किसी खास विषय में रुचि कभी पैदा नहीं हुई। परीक्षा पास करना इनके लिए सदैव दुःसाध्य कार्य बना रहा। मोहन के व्यक्तित्व पिता की ईमानदारी, निष्ठा आदि ने गहरा प्रभाव डाला। नरेन और मोहन दोनों मां के निकट अधिक रहे। दोनों के बाल मन पर अधिक पड़ा। दोनों ने इसे मुक्तकंठ से स्वीकार भी किया है।

19वीं सदी में भारत की दुर्दशा को दोनों गहराई से महसूस कर रहे थे। वे अनुभव कर रहे थे कि सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तीनों स्तर पर भारत अपने एकमात्र पैर पर बस खड़ा भर रह गया है। समाज में घोर अंधविश्वास, छूआछूत, जातीय विषमता आदि बुराई घर कर गई थी। यह ठीक है कि इनके पूर्व राजाराम आदि लोगों ने एक अलख जगाने की कोशिश की थी। वे पश्चिम से इतने आक्रांत थे कि अपनी ही जड़ों को भूल गए थे। पर स्वामी-महात्मा तो एक दूसरी ही मिट्टी के बने थे। प्रारंभ में ये दोनों भी पश्चिम से अभिभूत हुए थे, पर जल्दी ही ये उससे मुक्त हुए- 'समस्त पाश्चात्य जगत एक ज्वालामुखी पर बैठा है जो कल फूट सकता है और कल उसके टुकड़े-टुकड़े हो सकते हैं।... यदि आध्यात्मिक आधार नहीं बनाया गया तो समस्त यूरोपीय सभ्यता अगले पचास वर्ष में ध्वंस होकर चूर-चूर हो जाएगी'। (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ. 116) गांधी ने भी लिखा 'वह सभ्यता नुकसान देह है और उससे यूरोप की प्रजा पामाल होती जा रही है। इस सभ्यता की सच्ची पहचान तो यही है कि इसमें मनुष्य वाह्य खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं-... शरीर सुख कैसे मिले यही आज की सभ्यता ढूंढती है, और यही देने की वह कोशिश करती है परंतु वह सुख भी उन्हें नहीं मिल पाता (हिंद स्वराज)।' हां उनकी अच्छाइयों को स्वीकार करने में तनिक हिचक भी नहीं दिखलाई। पर जो कुछ किया संग्रह-त्याग के विवेक के साथ। अपनी कमियों को 'हिमालयन-ब्लैंडर' कहने में कोई झिझक भी नहीं हुई। 'लाल किले से पालम' तक सिमट चुके मुगल सल्तनत की भांति धर्म भी 'मुझे मत छूओ' तक ही सिमट चुका था। विवेकानंद ने इस पर गंभीर प्रहार किया और कहा- 'भारत के विनाश पर उसी दिन मुहर लग गई

जिस दिन हमने 'म्लेच्छ' शब्द का आविष्कार किया और दूसरों से संपर्क तोड़ लिया'। (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ. 116) विवेकानंद ने छूआछूत को एक बुराई के रूप में स्वीकार किया तो गांधी ने 'अस्पृश्यता' को एक आंदोलन में ही बदल दिया।

दोनों के मन में भारत के प्रति असीम प्यार था- 'निस्संदेह मुझे भारत से प्यार है, पर प्रत्येक दिन मेरी दृष्टि अधिक निर्मल होती जाती है।हम तो उस ईश्वर के सेवक हैं जिसे अज्ञानी मनुष्य कहते हैं' (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ. 112)। अफ्रीका से लौटते समय गांधी ने कहा- 'अब मैं कर्मभूमि से देवभूमि की तरफ लौट रहा हूँ।'

विवेकानंद ने एक बार अपने गुरु से निर्विकल्प समाधि के अनुभव की बात कही। गुरु ने उन्हें झिड़कते हुए कहा- 'तुम्हें लज्जा नहीं आती। मेरे तो इच्छा थी कि तुम एक महान वृक्ष के समान बढ़ोगे किंतु मैं देखता हूँ कि तुम केवल अपनी ही मुक्ति के इच्छुक हो' (जीवन सत्य शोधनम : शिवकरन सिंह (अप्रकाशित)। गुरु-इच्छा की पूर्ति विवेकानंद ने पूरी भी की। विवेकानंद ने लिखा- 'मैंने तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव-जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर कुछ भी नहीं है। जो जीवों के प्रति दया करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है' (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ. 111)। इसमें कोई संदेह नहीं है कि विवेकानंद द्वारा शुरू किए गए प्रयास को ही पूर्णता प्रदान करने के लिए गांधी ने जन्म लिया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था- 'मैं मानव जाति की सेवा द्वारा ईश्वर दर्शन का प्रयत्न कर रहा हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि ईश्वर न तो ऊपर स्वर्ग में है न नीचे किसी पाताल में। वह तो हर एक के हृदय में विराजमान है' (महात्मा गांधी की धर्मदृष्टि : मनोज कुमार राय, पृ. 115)।

वस्तुतः विवेकानंद ने हिंदुत्व के उन मूलभूत तथ्यों पर बल दिया था जिनका प्रतिपादन वेदांत/उपनिषद ने मनुष्य की अंतर्निहित दिव्यता-भय्यता-एकता को बढ़ावा देने के लिए किया था। सत्य-शांति-सामंजस्य मनुष्य का ध्येय होना चाहिए। संभव है कि रास्ते अलग-अलग हों। वे कहते हैं- 'सब-कुछ एक है। कोई अंतराय नहीं है, एकता ही नियम है।जीवन एक तरंग मात्र है। जो ईश्वर को तरंगित करता है वही तुम्हें भी तरंगित करता है' (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ. 101)। गांधी के मन में भी हिंदू धर्म के लिए असीम श्रद्धा थी। पर यह अंधश्रद्धा नहीं थी। परंपरा उनके लिए बंदरिया का मृत शिशु न होकर देशज खाद की तरह थी जिस पर भविष्य के रंग-बिरंगे फूल लहलहाएंगे। उन्होंने जाति-प्रथा, कर्मकांड, अंधविश्वास आदि को सिरे से ही खारिज कर दिया। दोनों ने अपने धर्म पर न केवल पुनर्चिंतन किया अपितु इसे युगधर्म के समनुरूप बनाने की कोशिश की। किसी ने गांधी से पूछा कि उनका धर्म क्या है? उन्होंने कहा- 'मेरा धर्म हिंदू धर्म है जो मानवता का धर्म है और मेरे लिए इसमें सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। गांधी के लिए धर्म और नैतिकता एक-दूसरे के पर्याय हैं। मैं हिंदू क्यों हूँ का जबाब देते हुए गांधी ने कहा- 'मैंने इसे सबसे सहिष्णु पाया है। उसमें सैद्धांतिक कट्टरता नहीं है... इसके कारण इसके अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति का अधिक से आधी अवसर मिलता है यह वर्जनशील नहीं है। अतः इसके अनुयायी न सिर्फ दूसरे धर्मों का आदर करते हैं, बल्कि सभी धर्मों की अच्छी बातों को पसंद करते हैं। अहिंसा सभी धर्मों में है, मगर हिंदू धर्म में इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति हुई है। हिंदू धर्म न सिर्फ मनुष्यों की एकात्मकता में विश्वास करता है बल्कि सभी जीवधारियों की एकात्मकता में विश्वास करता है (महात्मा गांधी

की धर्मदृष्टि : मनोज कुमार राय, पृ. 115)।

प्रथम दृष्टया तो देखने में लगता है कि दोनों अलग-अलग मंच पर खड़े हैं। एक गेरुआ वस्त्र पहनकर शिकागो में वेदांत के सूक्ष्म सिद्धांतों पर बात कर रहा है जो विशुद्ध धार्मिक है तो दूसरी तरफ धवल भगई लपेटे सत्य-अहिंसा-कष्ट-सहन पर आधारित सत्याग्रह की आवाज बुलंद करता है जो पूर्णतः राजनीति का विषय है। स्वराज गांधी के लिए सिर्फ पराधीनता से मुक्ति का ही मार्ग नहीं था अपितु यह असली रूप में आत्मानुशासन ही है जिसके जरिए वे सर्वविभु का साक्षात्कार करना चाहते थे। वे लिखते हैं- 'जिसे मैं प्राप्त करना चाहता हूँ वह आत्मसाक्षात्कार है....मेरा जीना भ्रमण करना.... या मेरे राजनीतिक जीवन के जो भी कार्य रहे हैं, उनके केंद्र में यही प्रयत्न निहित हैं।मेरी राष्ट्र की सेवा भी मेरे आत्मा को मनोविकारों से मुक्त करने की शिक्षा का एक माध्यम है' (महात्मा गांधी की धर्मदृष्टि : मनोज कुमार राय, पृ. 114)।

विवेकानंद राजनीति से परहेज करते थे। उन्होंने साफ तौर पर कहा है कि, मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं हूँ न ही राजनीतिक कार्यकर्ता। मुझे केवल स्पिरिट की परवाह है।... मेरे लेखन अथवा भाषण से कोई राजनीतिक निष्कर्ष न निकाला जाए' (27 सितंबर 1894 को बोस्टन में दिया गया भाषण)। इसके पीछे उनका क्या तर्क है, इस पर कभी उन्होंने कुछ कहा नहीं। अतः हम सिर्फ यह कह सकते हैं कि इस तेजस्वी स्वामी ने अपने लिए देश-काल-परिस्थिति को ध्यान में रखकर एक लक्ष्मण रेखा खींच रखी थी। हालांकि उन्होंने एक अवसर पर कहा था- 'संसार में डूबकर कर्म का रहस्य सीखो। संसार-यंत्र के पहियों से भागो मत। उसके भीतर खड़े होकर देखो वह कैसे चलता है' (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ. 101)। गांधी उनके इसी कथन को शिरोधार्य करते हुए राजनीति में संदेह घुसकर उसके 'सांड-भैंसों' से दो-दो हाथ किया।

भगवान बुद्ध ने किसी राजा से कहा था 'यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन उस पशु के पाश को काटकर मेरी आहुति दे दो, शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके'। विवेकानंद और गांधी दोनों के सामने 'The dumb Indian masses' का करुण चेहरा सदैव भासता रहता था। उन्होंने देखा कि भारतीय आबादी सचमुच में एक गूंगी भीड़ में बदल चुकी है। वह देश जो कभी अपनी सांस्कृतिक संपदा, अपनी परंपरा-शक्ति, ग्रहणशीलता और उसमें निहित आध्यात्मिक ऊर्जा के लिए जाना जाता है, वह सामाजिक पिछड़ापन, गरीबी, अंधविश्वास और मानसिक जड़ता का शिकार हो चुका था उसे फिर से सक्रिय-तेजस्वी, गर्व से चलने लायक बनाने के लिए उनकी नसों में सिर्फ पांचजन्य प्राण फूंकने की जरूरत है। विवेकानंद ने कहा 'उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति तक मत रुको'। जड़ता और भेद को दूर करने के लिए विवेकानंद और गांधी ने अथक प्रयास किया। गांधी एक कदम और आगे बढ़े- 'सारे देश के सामने एक ऐसी राष्ट्रीय उपासना होनी चाहिए जिसे देश का एक-एक बालक भी कर सके। धार्मिक और पांथिक उपासनाएं तो हैं लेकिन उनसे भेद पैदा होता है। देश में एक अभेद उत्पन्न करने वाली उपासना चाहिए। सबको लगे कि मैं देश के लिए कुछ कर रहा हूँ'। गजब का विचार है। कहां से चले थे और कहां आ गए- गांधी के मैजिक बैंड से- 'मैं देश के लिए कुछ कर रहा हूँ', की धुन निकल रही है और यहां 'मैं अपने लिए कर रहा हूँ, अपने परिवार के लिए कर रहा हूँ' की मुनादी हो रही है। किसी ने कभी गांधी को हिमालय जाने

की सलाह दे डाली। बापू ने कहा 'मेरी तपस्या का हिमालय वहीं है जहां अभी दरिद्रता पड़ी है मुझे उसे मिटाना है, शोषण दूर करना है, दुःख निवारण करना है। देश में एक भी आदमी जब तक जीवन की आवश्यकताओं से वंचित है तब तक मुझे शांति नहीं मिलेगी और मैं पांव सिकोड़कर नहीं बैठूंगा (महात्मा गांधी की धर्मदृष्टि : मनोज कुमार राय, पृ. 117)।' विवेकानंद ने भी निभ्रांत शब्दों में कहा 'मैं समाधि जैसे देश में नहीं रहना चाहता। मैं मनुष्यों की दुनिया में एक मनुष्य बनकर रहना चाहता हूँ'। (आधुनिक भारतीय चिंतन : नरवड़े पृ.99)। 'मैं ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो स्वर्ग में तो मुझे अनंत आनंद देगा, पर इस जगत में मुझे रोटी भी नहीं दे सकता' का उद्घोष करने वाले विवेकानंद हों अथवा 'आत्मसाक्षात्कार चेतन जगत की निष्काम और शुद्ध सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है' को जीवन का लक्ष्य मानने वाले गांधी हों, दोनों के लिए सेवा ही सर्वोपरि है। तुलसी ने भी कहा है- 'सिर भर जाऊं उचित अस मोरा। सबतें सेवक धरम कठोरा..।' धर्म इनके जीवन का केंद्रीय तत्व था। पर यह अपने उदात्त रूप में था- '...वह हां या ना की तिजोरी नहीं है, विधि-निषेध का भंडार नहीं है। जो धर्म का, अहिंसा का, नीति का पालन करना चाहता है उसे तलवार की धार पर चलाना। धर्मपालन ऐसी कुछ सही सलामत वस्तु नहीं। यह तो अनुभवों की खान में दबा हुआ रत्न है। उसे करोड़ों जीवों में, कोई-कोई ही खोज लाते हैं। जो सही सलामती रूक्का मांगता है उसके लिए धर्म नहीं है (महात्मा गांधी की धर्मदृष्टि : मनोज कुमार राय, पृ. 71)।'

हम कह सकते हैं कि योद्धा-संन्यासी को उनके धर्म का मार्ग मिल गया था। वे उस पर चले। धर्म के साथ दोनों की मुठभेड़ भी हुई। पर यह मुठभेड़ दुर्घटना नहीं एक दूसरे को जानने-समझने का सायास प्रयास था। धर्म ने इनको रूपांतरित किया और इन दोनों ने धर्म के धूल-धक्कड़ को झाड़कर उसे वर्तमान काल की अपेक्षाओं के अनुरूप बनाया। महाकवि टैगोर ने भी कहा है -

भजन, पूजन, साधना, आराधना सब छोड़ दो।

वह वहां है जहां कठोर धरती पर किसान खेती करता है।

उन्हीं की भांति पवित्र वस्त्र त्याग कर धूल में आ जाओ।

पसीने से लथपथ कर्म में उनसे मिलो और एक हो जाओ।

आज जरूरत है इन संन्यासी-योद्धा के कर्म-वचन से निःसृत संदेश को अपने जीवन में उतारने की, और यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी। क्या हम ऐसा कर पाएंगे?



स्मरण : यू.आर. अनंतमूर्ति

भारतीयता के सच की खोज में मग्न कथाकार

ए. अरविदाक्षन

उदात्त मानवीयता स्वप्न की तरह हम से दूर है। उस स्वप्न-सदृश्य, परंतु प्रखर यथार्थ से ओतप्रोत, मानवीयता की खोज के पथ पर अनेक बाधक तत्व पाए जाते हैं। सर्जनात्मकता का मूल तत्व इस वैरुद्ध की पहचान से संबंधित है। सामान्य यथार्थ की अभिव्यक्ति में उपरोक्त वैरुद्ध-जन्य संकट का समावेश होता नहीं है। बहुआयामी यथार्थ की अभिव्यक्ति में एक ओर रचनाकार की अगाध मेधा शक्ति का परिचय मिलता है और दूसरी ओर प्रखर आत्मालोचन की प्रवृत्ति लबालब भरी मिलती है। सर्जनात्मकता में अनिवार्य रूप से आलोचनात्मकता सन्निविष्ट रहती है। उसके अभाव में सर्जनात्मकता यांत्रिक लेखन की गिरफ्त में सीमित होकर विलुप्त हो जाती है। यू.आर. अनंतमूर्ति आत्मालोचन-प्रबुद्ध, मेधा-संपन्न साहित्यकार हैं। उनका पहला विद्रोह अपने प्रति रहा। इस विद्रोह ने उन्हें अप्रतिम सामाजिक संकटों के सच को ढूंढने की प्रेरणा दी है। उनके अनुसार आत्मालोचन एक तरह की आग है जो सर्जनात्मकता की धार को सदैव तेज बनाती है और वही बृहत्तर सच को अभिव्यक्ति देने में सहायक सिद्ध होती है। सर्जनात्मकता की इस आग को अपनी निरंतरता में बनाए और बचाए रखने के कारण ही यू.आर. अनंतमूर्ति भारतीयता के सच की खोज कर सके।

अनंतमूर्ति कन्नड़ भाषी कथाकार हैं। वे स्वयं अपना परिचय उसी रूप में देते रहे हैं लेकिन अन्य भाषा-भाषियों के लिए अनंतमूर्ति मात्र कन्नड़ के रचनाकार नहीं हैं। उनके लिए वे भारतीय कथाकार हैं। भारतीय भाषाओं में लिखने वाले सभी रचनाकार सामान्यतः भारतीय रचनाकार हैं लेकिन उसका एक विशिष्ट अर्थ भी है। सही अर्थों में कौन भारतीय साहित्यकार हैं? जो रचनाकार अपनी भाषा की लोक-संपृक्ति को अपनी सर्जनात्मकता में समेटते हैं, जो अपने समाज से पूरी तरह से संलिप्त रहता है और अपने समाज के बाहर के बृहत्तर समाज में अपने को संक्रमित कर पाता है और उसके दौरान अनेकानेक पारदर्शी भारतीय मूल्यों को भी संक्रमित कर पाता है वह अपनी भाषा की सीमाओं को अनिवार्यतः पार कर जाता है उसे हम अंततः भारतीय साहित्यकार कहते हैं। अनंतमूर्ति ने अपनी सर्जनात्मकता की अनंत संभावनाओं के जरिए भारतीयता की 'इथोस' को ही प्रमुखता दी है। उनके भारतीय साहित्यकार होने का प्रमुख कारण यह भी है कि उनका कथा साहित्य भारतीय राजनीति और भारतीय समाज की संक्रमणशीलता को भी भली-भांति उल्लेखित करता है। यह विदित बात है कि आधुनिकता की, जिसे यूरोपीय आधुनिकता (यूरो मोडेनिज्म) की संज्ञा देना बेहतर है, गंभीर चर्चाओं के दौरान अनंतमूर्ति की रचनाएं प्रकाशित हो रही थीं। भले ही वे यूरोपीय

आधुनिकता से परिचित थे फिर भी देशज आधुनिकता के पक्षधर होने की बात पर उनका जोर था। प्रथमतः उन्होंने परंपरा को रूढ़ियों से मुक्त करके देखा। उनका मानना था कि हम इसलिए परंपरा को रूढ़ियों से संपृक्त करके देखते हैं कि हमारी मानसिकता यूरोपीय आधुनिकता से बलवित है। इसलिए देशज और वैज्ञानिक आधुनिकता को हमें आत्मसात् करना चाहिए। भारत के विभिन्न प्रदेशों में कई मनीषी हमें मिले हैं जिनकी देसी दृष्टि का महत्व सर्वाधिक है। यदि हम आज अपने पैरों पर खड़े हैं तो इन मनीषियों की दृष्टि संपन्नता की मौलिकता के कारण है न कि यूरोपीय आधुनिकता के कारण। यू.आर. अनंतमूर्ति को भारतीय साहित्यकार की विशिष्ट श्रेणी में लाने का श्रेय इसी देशज दृष्टि को जाता है। इसमें प्रतिरोध की अनंत संभावनाएं मौजूद हैं। उनका यह भी कहना था कि जब हम प्रवाह के विरुद्ध खड़े हो पाते हैं तो प्रवाह की शक्ति से परिचित हो जाते हैं। इतिहास के सुदीर्घ पक्ष पर अनेकों ने संघर्ष का सामना किया है और विजयी हुए हैं। उन्हीं के प्रभाव को हमें स्वीकारना चाहिए। परंपरा का वही सही रूप है। रैडिकलिसम पूरी तरह से पश्चिमी नहीं है। वह भारतीय मेधा शक्ति का अभिन्न अंग है। गांधीजी को भी इसी संदर्भ में अनंतमूर्ति देखते हैं। पश्चिमी आधुनिकता के स्थान पर वैज्ञानिक भारतीय (देसी) आधुनिकता के प्रकरण में गांधीजी की आत्मलोचन की प्रवृत्ति तथा सामाजिक आलोचना का विकास हुआ था। उसी श्रेणी में वे बासवेश्वर से शिवराम कारंत तक के रचनाकारों को देखते हैं। यदि वे मार्क्स, डी.एच. लॉरेंस, कॉमू जैसे रचनाकारों से भी प्रभावित हैं तो उसको भी वे हमारी देसी आधुनिकता के प्रकरण में पुनर्विश्लेषित करते हैं। भारतीयता को क्षेत्रीयता तक सीमित न करके, किसी एक ज्ञान-विशेष तक सीमित न करके देखने के कारण यू.आर. अनंतमूर्ति, कन्डू के रचनाकार होते हुए भी, भारतीय साहित्यकार हैं।

सर्जनात्मकता के लिए जिस आलोचनात्मकता का उल्लेख अनंतमूर्ति ने किया है उसी की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई है। रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवेश में अनंतमूर्ति का जन्म हुआ था। उनकी बहुचर्चित रचना 'संस्कार' का दृश्यपट 'अग्रहारम्' (ब्राह्मणों की बस्ती) से संबंधित है। ब्राह्मण-व्यवस्था के भीतरी सच को ही उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है। प्रथम पाठ के अवसर पर जिस दृश्यपट को उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है उसी के मूल्यों पर उपन्यास मुखर होता दिखाई देता है। परंतु उपन्यास के दूसरे या तीसरे पाठ के अवसर उक्त जीवन की क्रमबद्धता में निहित क्रमहीनता को, उक्त जीवन की गतिशीलता में व्यक्त जीर्णता को, उक्त जीवन की असंदिग्धताओं में स्फुटित संदिग्धताओं को अनंतमूर्ति ने आलोचकीय सर्जनात्मकता के साथ व्यक्त किया है। मृतप्राय संस्कृति को ही दुर्वासापुर अग्रहारम् की कथा के माध्यम से उपन्यासकार व्यंजित करते हैं। दाहसंस्कार की समस्या की कथा से उपन्यास शुरू होता है। असंस्कृत जीवन व्यतीत करने वाला नाराणप्पा उपन्यास की मूल संवेदना के केंद्र में है। उसी तरह संस्कृत जीवन व्यतीत करने वाले हैं। 'अग्रहारम्' के गुरु तुल्य पंडित प्राणेशाचार्य। वह उपन्यास के मुख्य पात्र हैं। जीवन भर उन्होंने रोगातुर पत्नी की सेवा की और पवित्र जीवन बिताया था। पत्नी की मृत्यु के उपरांत नाराणप्पा के दाहसंस्कार की समस्या को लेकर उनके सामने आने वाली नाराणप्पा की रखैल चंद्री प्राणेशाचार्य की जीवन-दृष्टि को तथा उनकी आचरण-शुचिता को गड्ढमड्ढ कर देती है। प्राणेशाचार्य अपने जड़ जीवन से मुक्त हो जाता है। दाहसंस्कार की समस्या के साथ 'अग्रहारम्' में प्लेग की बीमारी फैल जाती है। अनेकों के शव शरीर सड़ने लगते हैं। अग्रहारम् की जीर्णता को उपन्यासकार ने अद्भुत प्रतीकात्मकता के

साथ उद्भासित किया है। इसी प्रकरण में प्राणेशाचार्य और चंद्री के शारीरिक संबंध को देखा जाना चाहिए। उक्त प्रसंग को अनंतमूर्ति ने कामुकता से लिप्त करके प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि सहज मनुष्य की शरीर-भाषा में उसे अनूदित किया है।

‘संस्कार’ शीर्षक उपन्यास परिवर्तन की अनिवार्यता तथा उसकी अनन्यता को ही व्यक्त करता है। जीवन के नैरंतर्य का अर्थ ही यही है कि जो जीर्ण होने का तैयार है उसका अंत होता है और जिस नएपन को आना है वह जरूर आता है। उपन्यास के एक स्थान पर नाराणप्पा प्राणेशाचार्य से कहता है- ‘अब आपके शास्त्र का कोई महत्व नहीं है। कांग्रेस का समय आने वाला है। अस्पृश्य लोगों को भी मंदिर में आपको प्रवेश देना होगा।’ राजनीति या सामाजिक संक्रमण का कोई सीधा दृश्य उपन्यास में नहीं है लेकिन ‘संस्कार’ राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन को ही प्रक्षेपित करता है। जड़ताओं से मुक्त होने की तीव्र इच्छा प्रस्तुत रचना की पूरी औपन्यासिकता में उद्भासित है। जीर्णता के प्रति अकारुणिक होकर ही उस भारतीय उपन्यासकार ने ‘संस्कार’ की रचना की है।

‘संस्कार’ की तुलना में ‘भारतीपुरा’ का परिदृश्य काफी कुछ परिवर्तित है। ‘भारतीपुरा’ का नायक विद्रोही है। इस पात्र परिकल्पना में गांधीजी का प्रभाव प्रभूत मात्रा में है। छुआछूत की प्रथा के विरुद्ध इस उपन्यास में ध्वनित स्वर सामान्य नहीं है। जगन्नाथ, जो उपन्यास का मुख्य पात्र है, का कहना है कि मंदिर में एक दलित के प्रवेश कर जाने से न भगवान का महत्व घटता है न उसकी पवित्रता खत्म होती है। यह भगवान का नाश चाहता है तभी गांव का विकास संभव है। इसमें मार्क्स की एक परिकल्पना का समावेश भी हुआ है। मार्क्स ने ग्रामीण मूर्खता (विलेज इडियोसी) की बात की है। एक गतिशील गांव ही वे चाहते थे उसी तरह विकास समान नगर भी। इस परिकल्पना ने उपन्यासकार को प्रभावित किया है। इसलिए ‘भारतीपुरा’ के दलित पवित्र शिला को छू लेते हैं और अपनी अशुद्ध अवस्था से वे मुक्त हो जाते हैं। जगन्नाथ पवित्र शिला को मनीति और अत्याचार के प्रतीक के रूप में देखता है इसलिए वह उसे अशुद्ध कर देना चाहता है। इस उपन्यास को नजदीक से देखें तो नेहरू युग और उत्तर नेहरू युग को आमने-सामने रखकर देखने का प्रयास भी इसमें मिलता है। जाति और वर्ग की सीमाओं को यह उपन्यास आसानी से पार कर जाता है। भगवान की पूजा और सुपारी की खेती के अलावा भारतीपुरा के लोग कुछ जानते नहीं हैं। जगन्नाथ के अनुसार यही उस गांव का अभिशाप है।

‘भारतीपुरा’ में एक तरह से अनंतमूर्ति ने अपने लोकजीवन का ही अनावरण किया है। उस लोकवृत्त की अपनी संदिग्धताएं और असमानताएं हैं। इस लोकवृत्त को अपनी मौलिकता में प्रस्तुत करते समय अनंतमूर्ति के सामने एक भारत था जो अपनी संदिग्धताओं के बावजूद अपनी सुप्तावस्था में से जागरित हो रहा था। जागरण के बावजूद बीच-बीच में सुप्तावस्था में लीन होता देश अनंतमूर्ति की रचनात्मकता में सदैव रहा है। यह एक तरह से भारत की तथा भारतीयता की खोज है। यहां पर भारतीयता हमारे अतीत का स्तुतिगायन नहीं है। वह हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य की पहचान है।

अनंतमूर्ति के लिए भारत का सच जीवन यथार्थ से जुड़ा रहा है। भारतीय जीवन यथार्थ जैसी कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं है लेकिन भारत जैसे विशाल देश के विभिन्न कोनों में अपनी-अपनी प्रादेशिकताओं के साथ उपलब्ध होने वाला यथार्थ ही वस्तुतः भारतीय सच है। कथा के कलेवर में

इस बहुस्वर यथार्थ को सन्निविष्ट करते समय सबसे पहले उसके लोकवृत्त को सुरक्षित रखना पड़ता है। इस कारण से अनंतमूर्ति के कथा-कलेवर में दृश्यात्मकता का विशिष्ट अनुभव हमें प्राप्त होता है। विवरण के स्थान पर दृश्यात्मकता को वे अधिक मुखर कर देते हैं। इस शिल्पविधान की यह खासियत है कि पाठक कथा के लोकवृत्त में पूरी तरह से अपने को डुबो पाता है तथा परोक्षतः इतिहास की कुंजी के सहारे भारत के जीवन यथार्थ को भी आत्मसात् करने में सक्षम हो जाता है।

परिवर्तनशीलता को अनंतमूर्ति ने अनिवार्य माना है। भारतीय यथार्थ के इसी के तुले पर वे तौलना चाहते थे। 'घटश्राद्ध' शीर्षक उनकी रचना, भले ही अस्पृश्यता के सवाल से संबंधित है, एक गांव की कहानी कहती है। साथ ही परिवर्तित समय की सुइयां भी उसमें गतिशील हैं। साल्वाडोर डाली की घड़ी की तरह अनंतमूर्ति के कथा साहित्य का समय गतिशील है उसमें एक अदृश्य सुई भी है जो भारतीय सच को सदैव आकार देती है।



व्याख्यान

कबीर : कल, आज और कल

गोपेश्वर सिंह

...आज जब मैं दिल्ली से रोहतक आ रहा था- कबीर पर बोलने के लिए तो अचानक तुलसीदास याद आए। हुआ यह कि रास्ते के दोनों ओर बड़ी संख्या में खिले हुए कास देर तक दिखते रहे। तुलसीदास उन्हीं खिले हुए कासों के कारण याद आए- 'फूले कास सकल मही छाई, जनु बरखाकृत प्रकट बुढ़ाई' तुलसीदास की इस चौपाई में वर्षा ऋतु के खत्म होने का खिले हुए कासों के जरिए जो कलात्मक वर्णन है, उससे उस कवि की काव्य-शक्ति का अनुभव हुआ। यहां कोई सगुण-निर्गुण विवाद नहीं, गहन जीवन-बोध है। फिर दूसरे प्रसंग में कबीर की भी पंक्तियां याद आईं और जीवन के गहन-गंभीर प्रश्नों से साक्षात्कार करने की निर्भय शैली की याद आई -

वेद कहे सरगुन के आगे निरगुन का बिसराम।

सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम॥

यह कबीर का सूफियाना राग है जिसमें सगुण-निर्गुण से परे सच्ची आध्यात्मिकता पर जोर है। और उसी के साथ यह भी याद आया कि हिंदी आलोचना में कबीर और तुलसी को आपस में भिड़ने का जो सिलसिला चल निकला है, वह एक तरह से रक्तरंजित विवाद में बदल चुका है। सगुण-निर्गुण, ज्ञानमार्गी-राममार्गी नाम से जो बंटवारे आलोचकों ने कर रखे हैं, उनके जरिए इन दोनों कवियों के केंद्रीय भावों को समझने की बजाय दोनों को एक-दूसरे के विपरीत साबित करने पर ही जोर ज्यादा है। आज हमारे लिए वे केंद्रीय भाव ज्यादा जरूरी हैं, बनिस्वत भेद के। बहरहाल, कबीर और तुलसी को आपस में लड़ाने का जो आलोचनात्मक सिलसिला है, यहां उससे अपने को अलग रखते हुए मैं कबीर पर कुछ बातें निवेदित करूंगा।

कुछ दिनों पहले मुझे इस संगोष्ठी में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया और विषय बताया गया- 'कबीर-कल आज और कल' तो मुझे अपने छात्र जीवन की एक फिल्म याद आई। फिल्म राजकपूर की थी। नाम था- 'कल आज और कल'। फिल्म में पृथ्वीराज कपूर दादा की भूमिका में हैं, राजकपूर पुत्र की भूमिका में और रणधीर कपूर, उनकी यह पहली फिल्म थी, पोते की भूमिका में हैं। जहां तक याद है, 1970-72 में यह फिल्म बनी थी। इसमें राजकपूर ने तीन पीढ़ियों का संघर्ष दिखाया है। दादा अपनी मान्यताओं और अपने मूल्यों से बंधा हुआ है। वह मानता है कि हम जो कर रहे हैं, हमारा जो समय है, वह सही है। पोता अपने ढंग से जीना चाहता है, दादाजी सुबह चार बजे उठते हैं और भजन गाते हैं, पोता देर तक सोता है और उठकर जोर-जोर से पश्चिमी संगीत

बजाता है। इसके कारण दादा और पोते के बीच टकराहट होती है। राजकपूर उनमें से एक का पुत्र है और दूसरे का पिता। वह पिता को सम्मान देना चाहता है और बेटे को प्यार, लेकिन उसके लाख प्रयत्न के बाद भी दादा और पोते में मेल-मिलाप नहीं होता। पिता उसे अपनी ओर खींच रहा है और पुत्र अपनी ओर। दादा और पोते की इस खींचतान में पिता यानी राजकपूर की चिंता किसी को नहीं है। दोनों की आपसी खींचतान में वह सैंडविच बना हुआ है। अंत में जो निष्कर्ष हाथ आता है, जहां तक मुझे याद है, वह यह कि राजकपूर अंत में कहता है कि एक को अपने बीते हुए कल की चिंता है, दूसरे को आने वाले कल की; मैं जो आज हूँ, मुझ आज की चिंता किसी को नहीं। उस फिल्म में जो तनाव है, अतीत, वर्तमान और भविष्य का, वह तीन पीढ़ियों का है। वह राजकपूर के समय में भी था और हमारे समय में भी है। आज यहां संगोष्ठी का जो विषय है, उसमें भी यह तनाव है। जहां तक मैं समझ रहा हूँ आयोजकों की चिंता यह है कि कबीर कैसे थे कल, कैसे हैं आज, और कैसे होंगे भविष्य में?

मेरी एक सहज जिज्ञासा है कि क्या किसी कवि की इतने लंबे कालखंड में प्रासंगिकता टूटना ठीक है? वह कल भी प्रासंगिक था, आज भी है और भविष्य में भी बना रहेगा- मुझे लगता है कि किसी कवि से ऐसी अपेक्षा रखना उसके साथ न्याय नहीं है। हर रचनाकार को अपने समय में फिट कर देने की इस प्रवृत्ति को कभी नामवर सिंह ने 'प्रासंगिकता का प्रमाद' कहा था। उन्होंने लिखा है : 'प्रासंगिक क्या वही है जो हमारे विचारों का अनुमोदन करता है और आज के अनुकूल है? जो आज से भिन्न है और हमें चुनौती देता है, वह प्रासंगिक क्यों नहीं? आज यह सवाल उठाना इसलिए जरूरी है कि प्रासंगिकता की चिंता प्रमाद की सीमा तक बढ़ गई है। अतीत के हर बड़े लेखक को किसी-न-किसी तरह समकालीन बनाने की ऐसी कोशिश हो रही है कि अतीत की अतीतता तो सुरक्षित रही नहीं, वर्तमान की अपनी विशिष्टता भी लुप्त हो रही है- यहां तक कि अतीत और वर्तमान का अंतर मिटता जा रहा है और इस तरह आज की ज्वलंत समस्याओं से बच निकलने का बहाना मिल रहा है।' मैं भी यह समझता हूँ कि इतने लंबे कालखंड में महान से महान आदमी प्रासंगिक ही बना रहे, यह जरूरी नहीं। मेरे पिताजी बहुत अच्छे आदमी थे। मेरी तुलना में कई अर्थों में बहादुर आदमी थे। जिन अर्थों में वे बहादुर थे, उन अर्थों में मैं बहादुर नहीं लेकिन स्त्रियों के बारे में, जातियों के बारे में, उनके जो विचार थे, वे कहे नहीं जा सकते। वे अपने मुसलमान दोस्तों के लिए जान दे सकते थे, लेकिन उसके साथ बैठकर खा नहीं सकते थे। हम खाना खा लेते हैं, अपने किसी मुसलमान दोस्त के लिए जान देने की बात आएगी तो सौ बार सोचेंगे। तब क्या मेरे पिताजी मेरे किसी काम के नहीं रहे? अपने उपन्यास- शायद 'ढाई घर' में गिरिराज किशोर ने इस सवाल को उठाते हुए कहा है- कि हमने छोटी समस्या तो हल कर ली, थाली और रोटी की समस्या हल कर ली, साथ खाने लगे लेकिन जो बड़ी समस्या थी, दिल के मिलने की समस्या- वह और बड़ी होती गई है। जब मेरे और मेरे पिताजी के समय में इतना अंतर आ गया है, यह समस्या ज्यादा जटिल हो गयी है, तब सोचिए कबीर तो चार-पांच सौ वर्ष पहले हुए थे। उनकी प्रासंगिकता पर आज यदि हम विचार कर रहे हैं तो यह जाहिर है कि सामान्य तौर पर एक भले और अच्छे आदमी से वे लाख गुना अच्छा और आगे के थे। हमारे समय में हिंदू-मुसलमान की समस्या जितनी भयावह है, वह कबीर के समय से अधिक है। हमारा समय कबीर के समय से अधिक असहिष्णु है। वे आज होते तो उन्हें

अपनी साखियां कहने में हजार परेशानियां उठानी पड़तीं। मैं एक उदाहरण देना चाहूंगा।

मैं 2000 से 2004 तक हैदराबाद के केंद्रीय विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहा था। उस बीच वहां चंद्रबाबू नायडू की सरकार थी। आंध्र प्रदेश के इंटरमीडिएट हिंदी पाठ्यक्रम में कबीर की 'साखियां' पढ़ाई जाती थीं। उनमें एक साखी थी- 'कांकड़-पाथर जोरि के, मसजिद लियो बनाय।' सवाल उठे कि यह मस्जिद का मजाक है। एक खास संप्रदाय के लोगों ने कहा कि यह हमारी भावना पर चोट है। आप जानते हैं कि चुनावी राजनीति के कारण सरकारें कितनी छुई-मुई हो गई हैं। जहां तक मुझे याद है कि बिना अर्थ जाने, बिना आशय समझे, असुविधाजनक साखियों को हटा दिया गया। हो सकता है- वेद का, मंदिर का, तीर्थों का जो मजाक कबीर ने उड़ाया है, उसको देखकर कुछ हिंदूवादी शक्तियों की भावनाएं भी आहत होने लगे। क्या आपको नहीं लगता कि हिंदू-मुसलमानों के पाखंडों की आलोचना करते हुए कबीर आज की तुलना में अपने समय में अधिक सुविधाजनक स्थिति में थे? आज हम जरा वेद, कुरान, मंदिर-मस्जिद पर टिप्पणी करके तो देखें। कबीर आज भी प्रासंगिक हैं, लेकिन ज्यादा चुनौतीपूर्ण अर्थों में। आज जैसी चुनौती कबीर के सामने है, उनके समय में शायद नहीं थी! कबीर के समय में उनका कोई संप्रदाय नहीं था कि उनके लिए- उनके पक्ष में उठ खड़ा होता और उनके समर्थन में लाठियां भांजता। कबीरपंथी मठ तो बाद में बने, ऐसा इतिहासकारों का कहना है और मठ भी कैसे? उन मठों में आप जाएं तो पाएंगे कि कबीर जिन चीजों का विरोध करते आए थे, वही चीजें वहां प्रतिष्ठित हैं, मसलन- अवतारवाद, मूर्तिपूजा, कर्मकांड आदि। कबीर आज हमारे समय, समाज, राजनीति और अकादमिक जगत के लिए अपने समय से अधिक बड़ी चुनौती हैं।

कबीर के जो विचार उनकी कविताओं में व्यक्त हैं, उन सबके साथ संपूर्णता में आपकी सहमति नहीं होगी। स्त्रियों के बारे में जो उनके विचार हैं उनसे आज किसी भी विचारवान आदमी की सहमति नहीं होगी। स्त्रियों के बारे में उनके विचार तुलसीदास से भी भयंकर हैं। निर्गुणपंथियों में कबीर हों या दादू, स्त्रियों के प्रति वे काफी अनुदार हैं। निर्गुणपंथियों में नानक ही हैं, जिनके यहां स्त्रियों के लिए सम्मान भाव है। कबीर ने तो स्त्री को सांप से भी अधिक जहरीला बताया है- 'नारी की झाई परत, अंधा होत भुजंग'। दादू तो यहां तक कहते हैं कि अस्सी साल की बुढ़िया तक पर भरोसा न करो। इस अर्थ में कबीर हों या दादू, कैसे प्रासंगिक माने जाएंगे? वैसे समय में निर्गुणपंथियों में नानक जैसा कवि मिलता है, जो स्त्रियों के प्रति अनुदार नहीं है-

भंडि जंमीअै भंडि निमीअै भंडि मंगण बीआहु॥

भंडहु होवै दोसती भंडहु चलै राहु॥

भंडु मुआ भंडु भालीअै भंडि होवै बंधानु॥

सो फिउ मंदा आखीअै जितु जंमहि राजान॥

'गुरु ग्रंथ साहिब' में संग्रहीत यह गुरु नानक देव की वाणी है। इसका भाव यह है कि स्त्री के जरिए ही यह सृष्टि चलती है। सारा संसार उसी से जन्म लेता है। वह राजाओं-महाराजाओं की जननी है। उसे 'मंदा' यानी बुरा क्यों कहा जाए? उसे सबसे ऊपर का दर्जा देते हुए नानक ने कहा कि उसके ऊपर केवल 'वाहिगुरु' यानी भगवान है।

सगुणपंथियों में सूरदास जैसा कवि मिलता है, जिसके यहां स्त्री के लिए सम्मान और समता

का भाव मिलता है। इसीलिए तो सूरदास के कृष्ण पर लिखते हुए समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया ने कहा है कि स्त्रियां कहीं अगर पुरुष के बराबर दिखती हैं तो वृंदावन में और कान्हा के साथ। मध्यकालीन साहित्य में इस घटना को डॉ. लोहिया स्त्री-पुरुष समानता के पक्ष में विलक्षण घटना मानते हैं। इस अर्थ में हम कबीर को नहीं देख पाते। हालांकि आलोचकों ने कहा है कि प्रत्यक्ष रूप से कबीर ने स्त्री-निंदा जरूर की है, लेकिन स्वयं को स्त्री-रूप में रखकर विरह के जो गीत उन्होंने लिखे हैं, उसमें स्त्री के दर्द को महसूस किया है, मसलन- 'तड़पत बिन बालम मोर जिया', जैसे पदों में मध्यकाल में स्त्री की जो घरेलू जिंदगी थी, उसकी जो विरह दशा थी, उसका मार्मिक चित्र मिलता है, लेकिन यह तो व्याख्या का भाव हुआ। जो प्रत्यक्ष अर्थ कबीर का हमारे सामने खुलता है वह वही है जो मध्यकालीन समाज का है। वे मध्यकालीन सीमा का अतिक्रमण करते हुए नहीं दिखाई पड़ते, जैसा कि वे अन्य प्रसंगों में दिखते हैं। आज हमें उनका वह रूप ठीक नहीं लगता, भविष्य में भी नहीं लगेगा। वे जब कुंडलिनी जगाने की बात करते हैं, तब भी हमें ठीक नहीं लगता। वह सब आज अव्यावहारिक लगता है।

वे प्रासंगिक वहां लगते हैं, जहां वे जाति निरपेक्ष और धर्मनिरपेक्ष समाज की बात करते हैं, जहां वे धार्मिक बाह्याडंबरों से मुक्त सच्ची मानवता की बात करते हैं, मंदिर-मस्जिद से मुक्त होकर एक ऐसे ईश्वर को अपने में ही उतार लेने की बात करते हैं जो हर कण में हर जगह है। इस रूप में मुझे लगता है कि यह भारतीय समाज और धर्म साधना के इतिहास में धर्म की नई प्रस्तावना है। कबीर ने कहा- 'कबीरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर'। वही पीर है, वही फकीर है, वही संन्यासी है जो दूसरों की पीर जानता है। वह नहीं जो मंदिरों-मठों में रहता है, तरह-तरह के कर्मकांड करता है और मस्जिद में रोजा-नमाज पढ़ता है। इस भावधारा को देखें। यही बात तुलसीदास कहते हैं- 'परहित सरिस धरम नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।' नरसी मेहता भी यही बात कहते हैं- 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जिन पीर पराई जाणी रे।' मध्यकाल में, संपूर्ण भारत में, वे चाहे कबीर हों, तुलसी हों, नरसी मेहता हों, वसवन्ना हों, शंकरदेव हों, उनके काव्य में धर्म की नई अवस्था, धर्म की नई प्रस्तावना, धर्म की एक नई जमीन तैयार होती हुई आपको दिखाई देगी। वह जमीन क्या है? वह जमीन है- सच्ची मनुष्यता की जमीन, वह जमीन है- सादगी की जमीन, वह जमीन है- भाईचारे और ईमानदारी की जमीन। हमारा स्वतंत्रता संग्राम गांधी के नेतृत्व में मनुष्यता की इसी जमीन पर लड़ा गया। कबीर ने छोटे-बड़े का, हिंदू-मुस्लिम का, मंदिर-मस्जिद का जो सवाल उठाया था, उस सवाल की रोशनी में स्वतंत्रता आंदोलन लड़ा गया। भारतीय जनता को सोचने और तर्क करने की आजादी पर लड़ा गया- हमारा स्वतंत्रता आंदोलन। उसके भीतर आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हर तरह की समता का स्वप्न था। उस स्वप्न में निश्चित रूप से कबीर का भी स्वप्न शामिल था और दूसरे भक्त कवियों का भी। कबीर ने हमें तर्क का हथियार दिया था। यह तर्क ही है जो सभी तरह की गैरबराबरी पर सवाल करता है। वह तर्क ही है जो पूछता है कि ये मंदिर और मस्जिद क्यों? ये ब्राह्मण और शूद्र क्यों? यह कर्मकांड क्यों? यह 'क्यों' हमारे लिए और हमारे समाज के लिए जरूरी है।

हमारे समय में मठों की, बाबाओं की, मंदिरों की संख्या जितनी तेजी से बढ़ी है, हमारे भीतर की सच्ची मनुष्यता की शिक्षा उतनी ही तेजी से घटी है। कबीर आदि संत कवियों ने जिस सादगी,

ईमानदारी, अपरिग्रह आदि की बात की, आज वह हमारे जीवन और समाज में कहीं नहीं है। यह अजब विडंबना है कि हमारे समय में कबीर की चर्चा जितनी तेजी से बढ़ी है, उतनी ही तेजी से धार्मिक कर्मकांड बढ़ा है, उतनी ही तेजी से नकली बाबाओं की संख्या बढ़ी है, भोग और संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ी है। एक तरफ हम वैज्ञानिक उपकरणों का अधिक से अधिक इस्तेमाल करते हैं, दूसरी तरफ हम अंधविश्वास की भी गिरफ्त में हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जो देशी भाषाओं की भारतीय पत्रकारिता थी उसमें राशिफल की ऐसी भरमार नहीं थी, जैसी आज है, उसमें तर्कशीलता और वैज्ञानिक चेतना पर जोर था। उस पत्रकारिता को संचालित करने वाला और पसंद करने वाला भारत का वह मध्यवर्ग था जो भारतीय नवजागरण की पैदाइश था, जिसके खून में स्वतंत्रता आंदोलन के तराने थे। वह मध्यवर्ग अब समाप्त हो चुका है। उसकी जगह छठे वेतनमान से अघायु हुआ मध्यवर्ग है, वह लालची मध्यवर्ग है, जिसके लालच का कोई अंत नहीं। इसी मध्यवर्ग के कारण हमारे समय में नकली और पांच सितारा बाबाओं की भरमार है। कबीर का साहित्य इस मध्यवर्ग के सामने चुनौती भी है और आदर्श भी।...

कबीर ने जब कहा था कि 'बागों न जा रे न जा, तेरी काया में गुजलार' - तब उसका आशय यह था कि बाहर कहीं भटकने की जरूरत नहीं, तुम्हारा शरीर ही वह मंदिर है, जिसके भीतर तुम्हारा साईं बसता है- तेरा साईं तूझ में, जाग सके तो जाग'। मैंने जैसा कहा कि धर्म की एक नई प्रस्तावना, एक नई जमीन तैयार कर रहे थे कबीर। आप याद करें कबीर के पूर्ववर्ती कवि हैं- वसवन्ना। कन्नड़ में 12वीं शताब्दी के हैं वसवन्ना, कबीर तो 15वीं शताब्दी के हैं। तीन सौ साल पहले वसवन्ना ने यही प्रस्तावना दी थी-

*धनी लोग तुम्हारे मंदिर बनाएंगे प्रभु,
मैं क्या बनाऊंगा, मैं एक गरीब आदमी
मेरा तन ही मंदिर है, सिर कलश,
दोनों पैर स्तंभ हैं
हृदय गर्भगृह
मैं कहां से मंदिर बनाऊंगा मेरे प्रभु
मैं एक गरीब आदमी।*

वसवन्ना हों या कबीर, दक्षिण भारत हो या उत्तर भारत, इन संतों ने लगभग 12वीं सदी से लेकर 15वीं, 16वीं सदी तक भारतीय धार्मिक जीवन की, भारतीय सामाजिक जीवन की, आध्यात्मिक जीवन की एक ऐसी प्रस्तावना तैयार की, जिसके आधार पर आधुनिक भारत का निर्माण होना चाहिए था। आधुनिक युग के महानायक महात्मा गांधी ने उस प्रस्तावना को ठीक से समझा था। तभी उनके जीवन में इन संत भक्त कवियों की सादगी-सच्चाई थी, तभी उनके सपनों में उन संत-भक्त कवियों के आदर्श थे। तुलसीदास उनके प्रिय कवियों में थे। नरसी मेहता का भजन- 'वैष्णव जन तो तेने कहिए...।' उनका प्रिय भजन था। उन्होंने कबीर का चरखा लिया और उसके जरिए स्वावलंबन की सीख दी। चरखा जो कबीर की रोजी-रोटी का जरिया भी था और चरखा जो उनके आध्यात्मिक अर्थ का सबसे बड़ा रूपक भी। कबीर कहते हैं कि यह सृष्टि चरखा है और ब्रह्म रूपी जुलाहा उसे चला रहा है। यदि कबीर के लिए चरखा रोजी-रोटी कमाने का और स्वावलंबन का जरिया है तो उसका

आध्यात्मिक अर्थ भी है। गांधी के लिए भी चरखा यही अर्थ रखता है। वे कबीर के इस चरखे के जरिए स्वावलंबी और अध्यात्मिक भारत का सपना देख रहे थे। गांधी कबीर के चरखा और रामचरितमानस के रामराज्य का प्रतीकार्य लेते हुए एक ऐसे भारत का सपना देख रहे थे जिसमें कोई दुखी और दीन न हो।

गांधी के लिए कबीर, तुलसी, नरसी मेहता और दूसरे मध्यकालीन संत-भक्त कवि यदि प्रासंगिक थे तो हमारे लिए क्यों नहीं हो सकते? आज उपभोक्तावाद और समाज में विषमता जिस कदर बढ़ी है, वंचित वर्ग और सुविधा संपन्न वर्ग का फर्क जितना बढ़ा है, उतना पहले नहीं था। हम ऐसे समाज में आ गए हैं, जिसके लालच का कोई अंत नहीं है। आज हमारे समय में इतने बाबाओं का उदय क्यों हुआ है? इसलिए कि हमारे लालच का कोई अंत नहीं है, हम और ज्यादा पाना चाहते हैं। एक कहावत है कि लालचियों के गाँव में कोई ठग भूखा नहीं रहता। इसीलिए हम लालची लोगों के बीच इन बाबाओं का कारोबार बहुत तेजी से बढ़ रहा है। कबीर की प्रासंगिकता पर यह गोष्ठी हो रही है तो इस बात को याद करने की जरूरत है।

जैसा कि मैंने कहा कि कबीर धर्म और अध्यात्म की नई जमीन तैयार करते हैं। उनके साथ एक विलक्षण और अभूतपूर्व सिलसिले की शुरुआत होती है। वे संन्यास का अर्थ बदल देते हैं। कबीर के पहले संन्यास का अर्थ था- घर-द्वार छोड़कर, पत्नी वगैरह से मुक्त होकर अकेला जीवन जीना। बुद्ध पत्नी को छोड़कर भागे थे। मतलब यह कि पत्नी संन्यास मार्ग में बाधक है, संन्यास के लिए घर छोड़ना जरूरी है। शंकराचार्य ने तो विवाह ही नहीं किया था। यह हमारे यहां संन्यास की परंपरा थी। कबीर ने घर में रहते हुए संन्यास को नया अर्थ दिया। उन्होंने बताया कि बाल-बच्चों के साथ रहते हुए, रोजी-रोटी कमाते हुए, चरखा चलाते हुए और कपड़ा बेचकर, पैसा कमाकर भी संन्यासी हुआ जा सकता है। यह संन्यास का नया अर्थ था, जिसकी घोषणा कबीर ने डंके की चोट पर की। अगर यह सब करते हुए कबीर संत-महात्मा थे तो आज के युग में महात्मा और संत वे नहीं हैं जो धर्म का कारोबार कर रहे हैं, संत-महात्मा वे हैं जो बड़े-बड़े वैज्ञानिक हैं, चिंतक हैं, पर्यावरणविद् हैं। कबीर को आज पढ़ने का मतलब यह है कि हम सच्ची धार्मिकता और दिखावे की धार्मिकता में फर्क करना सीखें।

कबीर को याद करने का एक अर्थ यह भी है जो अर्थ कबीर से गांधी तक आता है। बड़े बांधों और बड़े उद्योगों के जरिए विकास की जो राह हमने चुनी है, उस पर कबीर का चरखा प्रश्नचिह्न लगाता है। चरखा प्रतीक है- श्रम का, स्वावलंबन का और हर हाथ में काम की गारंटी का। गाँधी यही चाहते थे ताकि विषमता न फैले और हर हाथ को काम मिले। कबीर ने इसी के साथ संन्यास की एक दूसरी परिभाषा भी दी कि संन्यास का मतलब दूसरों के भरोसे खाना नहीं, दूसरों को ठगकर, चमत्कार दिखाकर, मठों, मंदिरों में बैठकर चढ़ावे का माल उड़ाना तथा हलवा-पूड़ी खाना नहीं। संन्यास का अर्थ है खुद कमाकर खाना। इस तरह कबीर दो विलक्षण काम करते हैं- एक तो गार्हस्थ संन्यास की नींव डालते हैं, दूसरा श्रमशील संन्यास की।

यह सब कैसे संभव हुआ? कबीर जैसी शक्ति, उन जैसी मेधा, उन जैसी धर्म की नई प्रस्तावना कैसे संभव हुई? यह प्रश्न जिज्ञासु लोगों को परेशान करता है। इसका कोई उत्तर रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास में नहीं मिलता। इसका उत्तर हमें उन इतिहासकारों से मिलता है

जिन्होंने मध्यकालीन भारत के आर्थिक इतिहास की खोजबीन की है। ऐसे इतिहासकारों में प्रमुख हैं- इरफान हबीब, जिन्होंने बताया है कि कबीर आदि संतों का उद्भव इसलिए संभव हुआ कि दस्तकारी के बहुत सारे औजार उसी काल में आए, चरखा उसी काल में आया। रहट भी उसी काल की देन है। तो ये जो छोटे-छोटे उत्पादन के औजार आए, इनसे दबी-पिछड़ी जातियों को ऊपर आने का मौका मिला। हम जानते हैं कि जब नई टेक्नोलॉजी आती है, तब नए मानवीय संबंधों का जन्म होता है। नयी तकनीक के ही कारण मध्यकाल में धुनिया, जुलाहा, चमार, नाई आदि दस्तकार जातियों का आर्थिक स्वावलंबन संभव हुआ। आर्थिक आधार अगर कमजोर है तो आप सिर नहीं उठा सकते। प्रेमचंद के 'गोदान' में धनिया होरी को डांटती है कि क्या राय साहब के यहां दौड़ते रहते हो, वे कुछ लेते-देते तो हैं नहीं; होरी धनिया को जवाब देते हुए कहता है कि भाग्यवान! जिस पांव के नीचे अपनी गदरन दबी हो उसको सहलाते रहने में ही भलाई है। कबीर ब्राह्मणवाद और पुरातनवाद के गढ़ काशी में रहते हैं और उसी की आलोचना करते हैं। जाहिर है, इसका आधार उनका आर्थिक स्वावलंबन है, जिसे उन्होंने चरखा के जरिए प्राप्त किया है। इरफान हबीब ने जाट जाति का उदाहरण दिया है। उन्होंने बताया है कि जाट 12वीं शताब्दी तक सिंधु नदी के किनारे रहते थे, उनकी सामाजिक स्थिति अत्यंत नीची थी। 12वीं शताब्दी में रहट उनके हाथ लगी। उन्होंने उसके जरिए उन्नत खेती की कला सीखी और मालदार हो गए। जब मालदार हुए तो उन्हें धर्म की जरूरत महसूस हुई। वे नानक के एकेश्वरवाद में शामिल हो गए। बाकी हिंदू-धर्म में ही अच्छी सामाजिक हैसियत के हकदार हो गए।

कबीर चरखा के जरिए, जिस स्वाभिमान और आर्थिक स्वावलंबन का संदेश दे रहे थे, उसके आशय को गांधी ने ग्रहण किया था। उसके जरिए उन्होंने दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्यवाद से लोहा लिया और उसे घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया लेकिन आजादी के बाद हमारे राष्ट्र निर्माताओं ने गांधी के आशय को धीरे धीरे छोड़ दिया। आप इलाहाबाद आनंद भवन में जाएंगे तो वहां इंदिरा गांधी की शादी की तस्वीर मिलेगी। वहां लिखा है कि जवाहरलाल नेहरू ने जेल में रहते हुए जो सूत काता, उससे बनी हुई साड़ी इंदिराजी ने शादी के समय पहनी। कोई आभूषण नहीं पहना। उन्हें फूलों से सजाया गया था। गांधी का प्रभाव उस युग के लोगों पर पड़ा। जवाहरलाल जैसे राजकुमार पर भी पड़ा। आगे चलकर उसी नेहरू ने आजादी के बाद चरखा मार्का उद्योग-धंधों का रास्ता छोड़कर बड़े बांधों और बड़े उद्योगों का रास्ता पकड़ा। परिणाम हम सबके सामने है।

एक बात और मित्रो, वह यह कि भक्ति काव्य पूरी दुनिया में विलक्षण कविता है। वह चाहे जिस भाषा में लिखी गयी हो, ब्रज में हो, अवधी में हो, पंजाबी में हो, कन्नड़ में हो, बंगाली में हो, असमिया में हो, वह सिर्फ कविता नहीं, वह वो नैतिकता है, जो हमें और हमारी आत्मा को हिला कर रख देती है। वह हमारे अंतर्जगत को बदल देने वाली कविता है। यह काम दुनिया के बड़े से बड़े कवि की कविता नहीं करती। आप दुनिया के बड़े से बड़े कवि को पढ़ जाएं। आप उसकी कविता को सराहेंगे, उसकी कहानी को सराहेंगे, रूपक और मेटाफर को सराहेंगे, आप अपने देश के कालिदास को पढ़ जाएं, जो कवि कुलगुरु माने जाते हैं, वे हमारी नैतिकता को उस तरह से हिलाकर नहीं रखते जिस तरह से मध्यकालीन भारत में पैदा हुए भक्त-संत कवि। कबीर, तुलसी, वसवन्ना, शंकरदेव को आप पढ़ें, आप एकबारगी हिल जाएंगे। वह कविता आपकी आत्मा को झकझोरेगी। वह सिर्फ

आपकी सौंदर्य-चेतना को जाग्रत भर करने का काम नहीं करेगी। आप एक बार मन से भक्ति कविता को पढ़कर देखें, आपकी आत्मा के भीतर की कालिमा उज्ज्वलता में बदलती जाएगी।

मुझे उम्मीद थी कि जब कबीर पर गोष्ठी हो रही है तो आप कुमार गंधर्व का गायन हुआ कबीर का भजन जरूर सुनवाएंगे। कारण यह है कि भाषण का उतना असर नहीं होता, जितना गायकी का होता है। कुमार गंधर्व जब गाते हैं- उड़ जाएगा हंस अकेला.... उड़ जाएगा। इसे कुमार गंधर्व भी गा रहे हैं और आधुनिक युग के कथाकार मार्कण्डेय इस शीर्षक से कहानी लिख रहे हैं- 'हंसा जाई अकेला'। मार्कण्डेय की कहानी कबीर पर नहीं है, न आत्मा-परामात्मा पर, वह हमारे समय की सच्चाई पर है। लेकिन कबीर का जो सूफियाना राग है, कहीं-न-कहीं उसमें गूंजता है। यही सूफियाना राग कुमार की गायकी में गूंजता है कि उड़ना है तो इतना संचय किस लिए? यह तन एक दिन लकड़ी की तरह जल जाएगा- देह जरै जिन लाकड़ी, केस जरै जिन घास। इसे जाना ही है तो इतना हाय-तौबा क्यों? कबीर अगर कुमार और मार्कण्डेय के लिए प्रासंगिक हैं तो हमारे लिए क्यों नहीं?

इसी के साथ यह भी याद करने की जरूरत है कि आज के लेखकों-गायकों के लिए कबीर क्यों जरूरी हैं? भीष्म साहनी जब अपना नाटक- 'कबिरा खड़ा बाजार में' लिखते हैं, 'इकतारे की आंख' जब मणि मधुकर लिखते हैं, प्रहलाद टिपानिया जब कबीर को गाते हैं, हिंदुस्तान-पकिस्तान के दर्जनों गायक जब कबीर को गाते हैं, तब उनको वे क्यों जरूरी लगते हैं? यहां थोड़े उदाहरण दिए जा रहे हैं। दर्जनों रचनाएं हैं- आधुनिक काल की, जिनकी पृष्ठभूमि में कबीर हैं। आप विजयदेव नारायण साही के काव्य-संग्रह 'साखी' को याद कीजिए। आप देखेंगे कि उसमें जो कविताएं हैं, उनमें वही फक्कड़ाना अंदाज, सूफियाना मस्ती और निर्भीक शैली है जो कबीर से विरासत में आज के कवि को मिली है। 'साखी' की कविताएं पढ़िए और अपने भीतर कबीर के कबीरपन को महसूस कीजिए। 'साखी' की एक कविता 'प्रार्थना : गुरु कबीर दास के लिए' को याद कीजिए :

परम गुरु
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अंतहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूं
और अंतहीन सहानुभूति
पाखंड न लगे।

दो तो ऐसा कलेजा दो
कि अपमान, महत्वाकांक्षा और भूख
की गांठों को मरोड़े हुए
उन लोगों का माथा सहला सकूं
और इसका डर न लगे
कि कोई हाथ ही काट जाएगा।
दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूं

और इसकी चिंता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल
कौन अपने पक्ष में करेगा।

इस कविता की भाषा पर ध्यान दीजिए, इसमें व्यक्त वाणी पर ध्यान दीजिए, कवि-आकांक्षा को देखिए- कबीर की आत्मा समकालीन कविता की शिराओं में दौड़ती हुई दिखाई देगी।

मित्रो, कबीर को मैं जिन अर्थों में लेता हूँ, वह अर्थ यही है मेरे लिए। वे कल यानी अतीत में जैसे थे, आज जैसे हैं और कल यानी भविष्य में जैसे होंगे, उसकी एक हल्की बानगी, मैंने आपके सामने पेश की। उनके कुछ विचार आज हमें प्रासंगिक नहीं लगते, मसलन- कुंडलिनी जगाने और स्त्रियों के प्रति उच्चरित उनके विचार। मगर कबीर का जो व्यापक परिप्रेक्ष्य है, वह मुझे आकर्षित करता है। वह व्यापक परिप्रेक्ष्य है- नई आधुनिक चेतना का, नए श्रमशील और स्वावलंबी भारत के निर्माण का और ऐसे समाज के निर्माण का जिसकी आकांक्षा हाय-हाय की नहीं, संतोष की हो- साई इतना दीजिए..... हम लोग रोज कहते रहते हैं कि 'साई इतना दीजिए' और हाय-हाय करते रहते हैं कि हे लक्ष्मी! आ जाओ, आ जाओ। हम लोग कहते हैं कि हमारा देश आध्यात्मिक और धार्मिक देश है लेकिन हम इतने भोगी, विलासी और लालची हैं, जितने पश्चिम वाले भी नहीं, जिन्हें हम भौतिकवादी कहते हैं। कबीर मुझे प्रासंगिक लगते हैं तो इस अर्थ में कि वे हमारे लालच पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। वे हमारे जीवन के पंख को नई आध्यात्मिक उड़ान देते हैं। यही काम गांधी भी करते हैं। गांधी कहते हैं कि यह धरती संपूर्ण मनुष्य जाति का पेट भरने और जरूरतों को पूरा करने के लिए काफी है, लेकिन यह धरती एक आदमी के लालच को पूरा करने के काबिल नहीं। आप कबीर से, कबीर के निस्पृह भाव से, गांधी के इस भाव को, राजनीतिक चिंतन को जोड़ें, तब आपको लगेगा कि कबीर हमारे समय के लिए कितने जरूरी हैं।

अंत में मैं फिर याद दिलाऊँ, कबीर कहते हैं और कुमार गंधर्व गाते हैं कि 'उड़ जाएगा हंस अकेला'। इस उड़ते हुए हंस के खेल को पहचानने वाले कबीर की याद का, यह जो उपक्रम आपने किया है, उसमें शामिल होकर मुझे अच्छा लगा। मेरे लिए यह साहित्यिक विमर्श भर नहीं, जीवन-मरण के प्रश्न की तरह सामाजिक और आध्यात्मिक यात्रा है...

(24 अक्टूबर, 2013 को महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित संगोष्ठी में दिए गए बीज वक्तव्य का लिखित एवं किंचित परिवर्धित-संपादित रूप)

प्रस्तुति : रूपेश कुमार शुक्ल



उपन्यास अंश

डमरू का दर्द

भगवानदास मोरवाल

हिंदी जगत को कई चर्चित उपन्यास देने वाले तथा इनके माध्यम से लोक-मानस की अनुभूतियों को उकेरने वाले भगवानदास मोरवाल की समकालीन हिंदी-कथा साहित्य में एक विशिष्ट पहचान है। प्रचलित विमर्शों के बरअक्स मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों, सर्वसत्ता व लोकविरोधी तत्वों, तथा आम आदमी की प्रबल अदम्यता और जिजीविषा की पड़ताल करनेवाले कथाकार भगवानदास मोरवाल की हिंदी कथा-साहित्य में उपस्थिति एक सशक्त और व्यापक दृष्टिवाले उपन्यासकार के तौर पर जानी जाती है। इन्होंने पाठकों को मेवात जैसे अलक्षित क्षेत्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर केंद्रित 'काला पहाड़', ग्रामीण स्त्री की अपने धर्म के प्रति समझ पर आधारित 'बाबल तेरा देस में', कंजर समुदाय के जीवन को चित्रित करने वाले 'रेत' और भारत जैसे विकासशील मगर गरीब देश में पिछले कुछ दशकों से तेजी से पनपती एनजीओ संस्कृति को केंद्र में रखकर रचा गया तथा अभी-अभी प्रकाशित 'नरक मसीहा' जैसे महत्वपूर्ण उपन्यास दिए हैं। कथाकार भगवानदास मोरवाल ने हाल में एक और लघु उपन्यास 'हलाला' शीर्षक से पूरा किया है। पाठकों के लिए प्रस्तुत है इस उपन्यास का एक अंश।

कलसंडा!

डमरू के कानों में जब-जब यह शब्द पड़ता, तब-तब उसे लगता मानो पूरी कायनात धधक उठी हो, और पूरी देह में कील मानिंद काबली कीकर के सख्त कांटे ठोक दिए हों। वह उसी समय सबसे नजरें बचाते हुए सीधे नोहरे में जाता और सालों से सहेजकर रखे गए बहुकोणीय टूटे और धुंधले पड़ चुके आईने में, देर तलक अपने आपको अपलक निहारता रहता। पता नहीं यह इस पुराने पड़ चुके आईने का दोष है, या उसका अपना वहम् कि उसे इसमें ऐसा कुछ नजर नहीं आता, जैसा पूरा मोहल्ला और उसकी सबसे छोटी भावज आमना कहती है। वह पूरी कोशिश करता है यह जानने की कि क्या सचमुच उसका रंग-रूप काले सांड की तरह है? अपने इसी वहम् को वह झुठलाने की बार-बार कोशिश करता, और आखिरकार उसे अपने इस धुंधले पड़ चुके आईने पर ही यकीन करना पड़ता।

अपना ही अक्स डमरू को अपना नजर नहीं आता बल्कि बिना खल-पूरी की सानी के ऐसा बलद नजर आता, जिसका काम बारह महीना अपनी देह तुड़वाने के कुछ नहीं होता। डमरू को लगता जैसे यादों की देह चाटती धूप में किसी आवारा मुंडेर पर स्याह काई की परत चढ़ी हुई हो। नियति के इस बेरहम मजाक पर उपजा गुस्सा धीरे-धीरे अपने आप बेचारगी में बदलता चला जाता, और प्याज की गांठों जैसी जिन बलिष्ठ भुजाओं पर उसे बड़ा नाज रहता, देखते ही देखते वे सूखी रेत पर छटपटाती मछलियां-सी नजर आने लगतीं।

‘खुदा ऐसा रूप और कद-काठी किसी को न दे!’

अपने परवरदीगार से मन ही मन एक बेजा शिकायत कर डमरू अभी आईने के सामने से हटा ही था कि सबसे छोटी भावज आमना ने शायद उसे देख लिया था, जो किसी काम से यहां अपनी जिठानी फातिमा के साथ आई थी।

‘जब देखो, ई नौसा चारू पहर या सीसा के आगे धरो पावे है। ईतो खुदा ने थोड़ी-सी मलूक ना बणायो.... बणायो हो तो पतो ना कैसी धरती पर फाड़तो!’ सबसे छोटी भावज आमना ने मुंह बिचकाकर अपनी जिठानी से कहते हुए, जैसे जानबूझकर अपने देवर डमरू को कोंचा।

सुनते ही डमरू के पूरे जिस्म में धारदार बछियां खुबती चली गईं। जिन भुजाओं की मछलियां थोड़ी देर पहले छटपटाती सी नजर आ रही थीं, छोटी भावज के इस आवाहन पर जैसे मचल उठीं। जिस स्याह चेहरे पर भादो की देह चाटती धूम में आवार मुंडेर पर स्याह काई की परत चढ़ी दिखाई दे रही थी, उसी चेहरे की यह परत भीतर ही भीतर मानो ऐंठने लगी।

बड़ी भावज फातिमा ने अपनी दौरानी को एक बेमानी डांट मानते हुए टोका, ‘रंडी, तू भी जब चाहे याहे छेड़ती रहवे है। जभी राजी रहेगी जब काई दिन ई कुछ उल्टी-सूधी बक देएगो!’

‘भावज, कदी मेरो भी बखत आएगो!’ डमरू ने गहरी सांस लेते हुए कहा।

‘हम्बै, सहजादा, तेरी ही किस्मत में लिख राखी हैं ये हूर की परी।’ सबसे छोटी भावज आमना तमकते हुए बोली।

‘कहीं आज तेरा मन में हर का भजन सुणना की तो ना है?’ बड़ी भावज ने थोड़ा सख्त होते हुए कहा।

‘यामें हर का भजन की कहा बात है। ऐसा कू कौन देएगो अपणी बेटी ए... एक तो इतनी उमर, ऊपर सू इतनो बड़िया रूप। याको तो ऊ कहणो है के- चुगे करे हो ज्वार में, बणो फिरे है भंग/हंसा की तू सर करे, उठो जाए न संग।’ इतना कह छोटी भावज ने पिच्च से जमीन पर थूक दिया।

‘ठीक है भावज, मेरो भी नाम डमरू ना जो एक दिन तेरी मां ही...’ कहते-कहते रुक गया डमरू।

अपने देवर के इस तेवर को देख बिचली भावज फातिमा सहमती चली गई। पता नहीं डमरू के इस अधूरे वाक्य में कोई अनर्थ छिपा हुआ था, या सचमुच कोई चुनौती छिपी हुई थी। उसने अपनी दौरानी आमना को बाजू से पकड़ा और लगभग धकेलते हुए उसे नोहरे से ले गई।

दोनों भावजों के जाते ही नोहरे में खामोशी बिछ गई। डमरू देर तक उसी धुंधले आईने के सामने खड़ा एकटक अपने आपको निहारता रहा, जिसने उससे कभी झूठ नहीं बोला। वह अलग-अलग कोणों से खुद को देखता रहा। काफी देर बाद उसके भीतर उफनती लहरें शांत हुईं, तो एकाएक उसकी नजरें अपने अक्स पर ठिठक गईं। अपने आपको गौर से देखने के बाद उसे लगा उसकी भावज आमना ने गलत नहीं कहा है। इस उम्र में ऐसे को भला कौन अपनी बेटी देगा। डमरू के कोर भीग आए और देखते ही देखते पनीली आंखें भरती चली आईं। उसे इसका पता भी नहीं चलता अगर कोरों से गुनगुनी पतली धार गालों से सरसराती हुई दिखाई नहीं देती। अपने परवरदीगार से एक बार फिर वह मन ही मन एक बेमानी-सी शिकायत करता कि तभी मस्जिद के

लाऊडस्पीकर से आई जुह की अजान ने उसके अशांत, भटके हुए मन पर जैसे दस्तक दी। उसने कर्ते की आस्तीन से कोरों को पोंछा और तेज-तेज कदमों से मस्जिद की ओर बढ़ गया।

पता नहीं कैसे यह बात घर से मुहल्ले में और मुहल्ले से फूट कर खबरी के कानों तक जा पहुंची। खबरी के पास पहुंचने का मतलब यह हुआ कि इसके बाद इसके बारे में किसी को कुछ बताने की जरूरत है आक के पके डोडे से निकले फोहे उड़ कर कहां-कहां पहुंच जायेंगे, अंदाजा लगाना मुश्किल है। खबरी के कान तो ऐसी बातें लपकने के लिए जैसे लपलपाए रहते हैं। इसलिए यह उसी दिन से बेचैन है जिस दिन से यह बात उस तक पहुंची है।

न जाने किस दुनिया में खोया डमरू तेजी से उड़ा जा रहा था कि खबरी के चौतरे के आगे पहुंचते ही उसके पांव ठिठक गए।

‘मियां डमरू, इतनी तेजी से कहां भागे जा रहे हो?’

डमरू ने रूककर देखा, तो पाया अपने चौतरे पर खबरी जैसे उसी का इंतजार कर रहा था।

‘काका बस ऐसेई!’

‘बस ऐसेई तो जनाब ऐसे कह रहे हो, जैसे निकाह पढ़ा के आ रहे हो!’

इस बार डमरू के कान खड़े हो गए, यह सोचकर कि यह खबरी आज इतनी नफासत, मुलामियत और तमीज के साथ, वह भी एकदम लखनवी अंदाज में, कैसे पेश आ रहा है? सबसे ज्यादा उसे यह देख कर हैरानी हो रही है कि जिस आदमी पर उसे आज तक यह शुबहा-सा रहा है कि उसे उसका असली नाम पता है भी या नहीं, वह पूरी इज्जत बख्शाते हुए उसे मियां डमरू कह कर संबोधित कर रहा है, जबकि यह तो हमेशा सीधी कुल्हाड़ी से लत्ता धोता है।

‘ना ५ ५ ऐसीकोई बात ना है काका।’ डमरू ने टालना चाहा।

‘बात तो है डमरू... अब तू ना बताए तो तेरी मरजी।’ खबरी ने कुरेदते हुए पूछा।

‘ईमान सू, ऐसी कोई बात ना है।’ डमरू एक बेमानी हँसी हंसते हुए आगे बोला ‘अगर कोई तेरी नजर में है तो तू ही बता दे!’

‘ऐ कोई बात ना है?’ खबरी इस बार डमरू की आंखों में उतर गया।

‘ना तो।’ डमरू ने दो टूक मना करते हुए जवाब दिया।

‘अच्छो, काबा सोई हाथ उठा के कह के कोई बात ना है!’

डमरू ने तुरंत काबा यानी पच्छिम की तरफ हाथ उठा दिया।

खबरी चुप। पलभर के लिए उसने अपने कानों और बताने वाले दोनों पर शक-सा हुआ। मगर ऐसा कैसे हो सकता है? यही सोचते हुए वह बोला, ‘पर यार, मैंने तो सुणी ही के तम दोनूं देवर-भावज में कोई तगड़ी टिसल फिस्स हुई ही?’

‘अच्छो ५ ५ ५ तो नोहरावाली बात तेरे पै (पास) भी पहोंच गी है। वैसे ऊ ऐसी कोई बात ना ही... अन्यायी, ऐसी छोटी-मोटी मजाक तो देवर-भावज में चलती रहवे हैं।’

‘कहा कही, छोटी-मोटी मजाक! ऊ छोटी-मोटी मजाक ही के जब देखो ई कलसंडा पराई बहू-बेटीन्ने तकतो रहवे है। सुकर है खुदा ने ई थोड़ो-सो मलूक ना बणायो, नहीं तो गांओ-मुहल्ला की एक भी कुआंरी ब्याहता ए ना छोड़तो।’

‘काका, मेरी भावज ने ई बात तो ना कही ही।’ डमरू के चेहरे का जैसे रंग उड़ गया।

‘तो फिर जो कही ही, वही बता दे!’ खबरी ने डमरू को घेरते हुए पूछा।

इससे पहले कि डमरू खबरी के कहे में संशोधन करता, सामने से चौतरे की सीढ़ियां पार करते हुए किसी ने पूछा, ‘अरे, या राना बिणजार ए कहा बिदूया पढ़ा रो है?’

‘अरे यार फकीरा, तू भी सही मौका पे आयो है.... अच्छो सुन, तैने भी सुणी है के इन देवर-भावज में कोई टिसल-फिस्स हुई है?’ पुष्टि के लिए खबरी फकीरा की ओर पलटा।

‘हां यार, मैंने भी सुनी है कि याकी भावजन्ने ने खूब भली-बुरी ही।’

‘ले सुन ले, ई फकीरा तो ना सिखायो है मैंने। अरे बावला, तेरी भावजन्ने तो ऐसी-ऐसी बात कही बताई के अगर हम तेरे आगे बता देएं तो तोकू मरण कू भी जिगह ना मिलेगी... पर हमन्ने कहा, तिहारी घर की बात है।’ इतना कह खबरी हल्के-से फकीरा की ओर पलटा। उसकी तरफ आंखे मारते हुए गहरा सांस लिया, ‘पर यामें तेरी कसूर ना है डमरू.... ऊपरवालो ना तेरे साथ ऐसो अन्याव करतो, ना तोहे ये दिन देखना पड़ता।’

‘बात तो तेरी सोलह आने ठीक है यार खबरी वरना कहा कमी है या पट्ठा में। अरे, थोड़ो-सो रंग-रूप ही तो ना है।’

‘फकीरा, बीरबाणी रंग-रूप सू ना, हथियार सू दबे है। वैसे असल बात ई है के बाकी भावजन्ने मुफत में एक मजूर मिल रो है। अरे, बाकी का भाई तो लुगाइन्ने बगल में लेके सोवे और खटतो डोले ई बिचारो डमरू बताओ ई कहीं को न्याव हुआ!’

खबरी की बात पूरी-पूरी होते डमरू की नसों में ठिठका हुआ खून हरहरा कर ठहाठा मारने लगा। भुजाओं में शांत पड़ी मछलियों के गलफड़ों में मानो ढेर सारी आक्सीजन भर गई।

‘एक बात और कहूं फकीरा, ई तो डमरू ही भलो आदमी है नहीं तो कोई और सो होतो न, तो अब तलक काई भावज एक इक्लली पाके टांग देतो। मजाल है पीछे इनमें सू कोई कुछ कह तो जाती।’ खबरी ने एकदम नाजुक जगह पर चोट मारते हुए कहा।

‘वैसे डमरू, ये बात कही कौण-सी भावज ने ही?’ फकीरा चेहरे के भावों को छिपाने के लिए अक्कल दाढ़ में फंसे किणके को कुरेदने लगा।

‘किसने कही है, वही है हमारा घर में एक छाकरी मेरी सबसू छोटी भावज।’ नजर नीची कर डमरू ने धीरे-से कहा।

‘यार, वाने जरूर कही होएगी। वैसे भी ऊ सिंगार की है और सिंगार का बारा में ई कहवात मसहूर है के अगर अपणा घर में झगड़ा करवाणे है तो सिंगार में जा बसो, और काई सू लट्ठ बजाणो है तो अपणा घर में सिंगार वाली बिहा लाओ... वैसे एक बात कहूं डमरू मौका देखके काई दिन तू या दारी की सिंगारवाली को ही मीटर खेंच दे। याको जोबन कुछ जादा ही फटो मरे है।’ दांत पीसते हुए, मचमचाते हुए सुझाव दिया खबरी ने।

‘काका, मैं तो या काम ए भी कर दूं, पर मरणो या बात को है के भावज लगे है, ऊ भी सगी।’

‘बेकूप, या ही मारे तो कह रो हूं के भावज लगे है। मेरे यार, वैसे भी भावज पे देवर को पूरो हक होवे है। अन्यायी पांच-पांच पंडून ने भी तो अपणी एक ही भावज द्रौपदी सू काम चलायो हो।’ खबरी ने डमरू का हौसला बढ़ाते हुए कहा।

डमरू खबरी के इस सुझाव पर कुछ नहीं बोला।

‘खबरी, मेरी तो सबसू बड़ी चिंता दूसरी है क-
नट घोड़ा और नाजनीन, बधिया मल्ल सुनार
ये छेऊ ठाडे भले, बूढ़े हुए तो ख्वार।’

‘ई बात तो तैने फकीरा सही कही है। थोड़-सा दिन की बात और है। पीछे तो ई हज्ज के लायक भी ना रहेगो। अरे, हारी-बीमारी में याहे कोई एक गिलास पाणी भी ना देएगो।’ डमरू की ठंडी शिराओं को ताप देने के लिए खबरी अपनी तरफ से मुट्ठी भर समिधा डाल, उसे भड़काते हुए बोला।

‘मेरे यार, जादा नरमी आदमी का आपा ए खावे है।’ फकीरा ने भी धीरे-से उसमें फूंक पारते हुए कहा।

डमरू के भीतर जैसे कुछ खदबदाने लगा। वह धीरे-से उठा और नोहरा जाने के बजाय तेज-तेज कदमों से अम्र की नमाज पढ़ने के लिए जामा मस्जिद की ओर मुड़ गया। मगर आधे रास्ते में ही उसकी चाल मंद पड़ती चली गई और मस्जिद की सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते तो उसके अंदर यह कुफ्र अंगड़ाई लेने लगा-

जोबन तेरो दो दिन को री गोरी नार
जैसे पाखा पे ढलती धूप
यापे मत कर इतनो गुमान
गहा जाएगो कोई रानो बिणजार।

सांझ की उदासी का असली रंग और सुबह का भोला कुनमुनापन देखना हो, तो उसके लिए इस देश के गांव-देहातों से अच्छी जगह दूसरी नहीं हो सकती। आलम यह होता है कि इशा की नमाज होते-होते ज्यादातर घरों की राख कब ठंडी हो जाती है, पता ही नहीं चलता। सांझ का झुटपुटा धिरते-धिरते और दीया-बाती होते-होते उदास ओसारे हरकत में आ जाते हैं, और इशा की नमाज तक लगभग पूरी तरह खामोश हो जाते हैं। जबकि सुबह का कुनमुनापन किसी जिद्दी बच्चे-सा अपने उनींदेपन में देर तक कसमसाता रहता है।

यह देख कर पूरे घर को हैरानी हुई कि जो डमरू अपनी भावजों द्वारा बांधे गए दिनों के अनुसार शाम की रोटी नोहरे में ही खाता है, वह बिना किसी पूर्वाभास और किसी को बिना कुछ बताए, मगरिब की नमाज पढ़ते ही सीधा घर आ गया।

डमरू का इस तरह औचक आना भले ही किसी और को खटका हो या नहीं, उसकी सबसे बड़ी भावज नसीबन को जरूर खटका। डमरू के पांवों के चाप, उसे चाप नहीं किसी अनहोनी की जैसे दलक-सी लगी। पता चलते ही नसीबन सीधे दालान में आई और इससे पहले कि डमरू कुछ कहता, उसने एक तरफ खड़ी चारपाई बिछा दी। सबसे छोटी भावज आमना को तो जैसे ही पता चला कि डमरू आया है, उसके तो समझो काटो खून नहीं।

डमरू अभी चारपाई पर बैठा ही था कि मगरिब की नमाज पढ़, दोनों बड़े भाई जमाल खां और कमाल खां भी आ गए जबकि तीसरा भाई नवाब खां कभी भी आ सकता है। एक पल के लिए तो उन दोनों को भी हैरानी हुई कि आज कैसे बिना बताए डमरू आया हुआ है। मगर उन दोनों ने कुछ नहीं कहा। वैसे ही उसका घर है और अपने घर में जब चाहे वह आ सकता है। यह अलग बात

है कि वह अपनी भावजों की इज्जत करते हुए घर-गृहस्थी वाले सहन में झांकता नहीं है।

दोनों भाई भी वहीं बिछी दूसरी चारपाई पर बैठ गए।

‘लाओ भाई, रोटी-टूक होगी होएं तो लियाओ!’ जमाल खां ने ओसारे की ओर देखते हुए कहा। आदेश पाते ही एक-एक कर रोटियां की चंगेरी, सब्जी की पतीली, चमली-कटोरी और पानी का जग आ गया और इससे पहले कि दोनों भाई रोटी खाना शुरू करते, तीसरा भाई नवाब भी आ गया।

‘अरे, आज ई डमरू कैसे गैल झूलगो!’ दालान में घुसते ही नवाब ने मुस्कारते हुए कहा।

‘क्यों, ई घर याको ना है! तू भी यार, कदी-कदी कैसी कुलखणी बात करे है।’ जमाल खां ने अपने भाई नवाब को परोक्ष रूप से डांटते हुए कहा।

‘मेरा कहणा को ऊ मतलब ना है... मे... मेरो मतलब है के आज कैसे चुपचाप...’

‘तो कहा याहे काई सू इजाजत लेनी पड़ेगी, या फिर झांझ बजानी पड़ेगी!’

‘यार जमाल, तू तो बेमतलब कड़ी-सो उफन रो है। अन्यायी, मैंने कौन-सी गाली दे दी!’ नवाब ने अपने बड़े भाई से पूछा।

‘छोडो न, पतो ना तमूभी कहां कि रामायैण ले बैठा... चुपचाप रोटी तो ना खाई जा रही है।’ इस बार नसीबन ने दखल देते हुए कहा।

जमाल खां और नवाब की यह झल्लाहट आने वाली किसी अनिष्टता की वजह से थी, या इसकी कुछ और वजह थी कहना मुश्किल है। हां, अगर नसीबन इसमें दखल नहीं देती, तो शायद इस अनिष्टता की पदचाप साफ सुनाई दे जाती।

किसी को नहीं था इसका गुमान कि आज यह डमरू ऐसी बेहूदी बातें ले बैठेगा।

‘ऐसो कर, रोटी खा ली होएं तो निमाज पढ़ के चुपचाप सो जा... कह रो है के मैं हज्ज करण जाऊंगो। हज्ज कै कोई बातन् सू होवे हैं!’ सबसे बड़े भाई जमाल खां ने कुल्ला करते हुए डमरू को डांटा।

‘और जो ई दुनिया कर-करके आ रही है? डमरू ने धीरे-से कहा।

‘करके आ रही है, पर वाको पहले पासपोरट बणवानो पड़े है और फिर दिल्ली जाके सिरकार सू इजाजत लेनी पड़े है।’

‘ई कौन-सी बड़ी बात है, तैने भी तो बणवा राखो है। तोहे भी तो सिरकार सू इजाजत मिलगी ही। जैसे तोहे मिलगी मोहे भी मिल जाएगी।

‘यार, तू तो ऐसे कह रो है जैसे ई काम बहोत आसान है। अरे, चल पासपोरट बणगो और सिरकार सू भी इजाजत मिलगी, पर हज्ज पे जो दौलत खरज होएगी, ऊ कहान सू आएगी?’ इस बार कमाल खां ने असली जड़ बताते हुए डमरू का रास्ता रोकना चाहा।

डमरू एकदम चुप। देर तलक कुछ नहीं बोला।

तीनों भाई यानी जमाल खां, कमाल खां और नवाब खां ने कनखियों से एक-दूसरे की ओर देखा।

‘याको मतलब या घर में मेरो कुछ ना है!’

दालान में छाई खामोशी में मानो डमरू ने कोई कंकर उछाल दिया।

‘किसने कह दी के तेरो या घर में कुछ ना है। अरे, जब या कमालू और नवाब को बिना हज्ज

काम चल रो है, तो फिर तोहे हज्ज करणा की ऐसी कहा जरूरत आ पड़ी?’

डमरू से, अपने सबसे बड़े भाई जमाल खां की इस जिज्ञासा का कोई जवाब देते नहीं बना।

‘देख, मेरी माने तो तू जमात पे निकल जा। अन्यायी, जैसी हज्ज वैसी जमात... और फिर तोहे जियारत सू मतलब है, चाहे ऊ हज्ज होए या जमात-कहा फरक मारे.... सारी जियारत-इबादत एक-सी होवे है।’ डमरू को चुप देख जमाल खां सलाह देते हुए बोला।

‘कैसे होगी सारी जियारत-इबादत एक जैसी! तेरी जियारत तो जहाज में मजा लेती डोले, और ई डमरू बदना-गूदड़ी ए बांध गांओ-गांओ में धूल फांकतो डोले.... ना, मैं तो हज्ज ही करूंगो!’

डमरू के मुंह से यह ऐलान सुन पूरा दालान स्तब्ध रह गया। जमाल खां को तो ऐसे लगा जैसे उसके सबसे छोटे भाई ने सबसे सामने तमाचा जड़ दिया। उसे ही नहीं कमाल खां और नवाब को भी इसकी उम्मीद नहीं थी कि यह डमरू इस तरह खुलेआम बगावत पर उतर आएगा। वह डमरू जिसने आज तक मजाल है अपने भाईयों के आगे मुंह तो खोला हो।

जमाल खां को गुस्सा तो बहुत आया मगर न जाने क्या सोचकर खून का घूंट पीकर रह गया। कमाल खां समझ गया कि किसी न किसी तरह फिलहाल डमरू को शांत करना है। उसने डमरू से नजर बचाते हुए जमाल खां को खामोश रहने का इशारा किया, और फिर बेहद संयमित लहजे में बोला, ‘जमाल को कहणा को ऊ मतलब ना है। वाको मतलब है के एकाध महीना, पहले तू जमात में हो आ। जमात ए समझ ले पहले तू। मेरे यार, हज्ज करण तू जरूर जा पर तरीका सू जा।’

पता नहीं डमरू अपने बड़े भाई कमाल खां के इस तर्क से कहां तक और कितना संतुष्ट और सहमत हुआ, मगर इसके बाद वह कुछ नहीं बोला। इससे पहले कि वह यह तय कर पाता कि उसे मस्जिद में जाना है, या मस्जिद में- इशा की अजान लग गई।

‘चलो रे, निमाज पढ़ लेओ! ई गीबत तो पीछे भी होती रहेगी।’

जमाल खां के इस आदेश भरे निर्देश पर डमरू समेत सारे भाई इशा की नमाज पढ़ने के लिए मस्जिद की ओर चल पड़े।

नमाज पढ़ने के बाद तीनों भाइयों का मस्जिद से घर लेना मुश्किल हो गया। नीम अंधेरे में डूबा मुश्किल से फलांग भर का रास्ता जैसे मीलों लंबा हो गया। जमाल खां ने मस्जिद में नामजियों की कतार में देखा भी लेकिन डमरू उसे कहीं नजर नहीं आया। यानी या तो वह इस मस्जिद में नमाज पढ़ने आया नहीं, या फिर दूसरी मस्जिद में चला गया।

जमाल खां अभी अंदर सहन में दाखिल होता कि उसने तीनों दौर-जिठानियों नसीबन, फातिमा और अमाना को आपस में किसी बात पर उलझते हुए सुना। जिस तेजी से उसके कदम मस्जिद से घर की ओर बढ़े आ रहे थे, उसी तेजी से जहां थे, वहीं ठिठक गए। उसने अपने दोनों भाइयों को वहीं रुकने का इशारा किया, और अंदर चल रही बातचीत को ध्यान से सुनने लगा।

‘मैंने ई कितनी बेर हाथ जोड़ के समझा दी के तू याहे मत छेड़े कर, पर या कुलक्षणी ने मेरी सुणी होए जब न। अब राजी रहेगी जब या घर का पाड़-तिवाड़ हो जांगा।’ यह नसीबन थी जिसके लगभग भीगे हुए स्वर में कातरता घुली हुई थी।

‘कमलू, यार तेरी भावज किस्सू कह री होएगी हाथ जोड़ के समझाणा की बात?’ जमाल खां ने फुसफुसाते हुए अपने छोटे भाई कमाल खां से पूछा।

‘एक मिनट, ध्यान सू सुन ।’ अंदर ने आने वाली आवाज को सुन कमाल खां ने अपने बड़े भाई से कहा ।

‘तू तो मेरे ऊपर बिना टिकट चढ़ी जा रही है । मैंने वासू मजाक ही तो करी है ।’ आमना यानी नवाब की पत्नी अपनी जिठानी को सफाई देती हुए बोली ।

मजाक भी होए करे हैं पर तैने तो वाके बर्छी-सी घुसा दी के ई तो थोड़ो-सो रंग-रूप ना दियो. ... दियो होतो तो पतो ना कैसी धरती ए फाड़तो ।’

‘आमना, नसीबन या बात ए तो ठीक कह री है ।’ फातिमा भी अपनी जिठानी नसीबन से सहमत होते हुए बोली ।

‘या कुलक्षणी को इतनो सहूर ना है के काई दिन वाके जी में आगी न, तो ई कलसंडा कुछ भी कर सकतो ।’

अपनी जिठानी के इस वाक्य पर फातिमा की हँसी छूट गई और अपनी दौरानी आमना को कोंचते हुए खिखियाई, ‘वैसे भी दारी, रुको हुआ मरद और बांध को कोई भरोसा ना होवे है... पतो ना इनको ईमान कद खराब हो जाए ।’

‘ई कुलक्षणी, यही तो चाहवे है । ई जभी राजी रहेगी जब काई दिन याहे हरी कर देएगो ।’ नसीबन ने दांत पीसते हुए आमना को डांटा ।

इससे पहले कि तीनों दौर-जिठानियों की यह नोंक-झोंक और आगे बढ़ती, जमाल खां मठारते हुए अंदर दाखिल हो गया । जमाल खां सहित तीनों भाई समझ गए कि इस फसाद की असल जड़ यह आमना है । मगर अगले ही पल सोचा कि देवर-भावज के बीच हुआ ऐसा हँसी-ठट्टा, चाहे वह कितना भी तीखा क्यों न हो, इतने बड़े फैसले, (वह भी हज पर जाने का) के लिए नहीं उकसा सकता ।

तीनों भाइयों के दाखिल होते ही घर में सन्नाटा छा गया । ऐसा सन्नाटा, मानो यहां कुछ हुआ ही नहीं । बड़ी चतुराई से तीनों दौर-जिठानी अपने-अपने कामों में ऐसे जुट गईं, जैसे उन्हें दीन-दुनिया का कुछ पता ही नहीं है ।

इशा की नमाज के बाद जहां सारा घर इससे पहले इस वक्त सोने के मीजान में लग जाता, आज मानो किसी को नींद नहीं आ रही है । जमाल खां देर तक मनन करता रहा, उस जड़ की तह तक पहुंचने के लिए, जिसकी वजह से जिस डमरू ने अपने बड़े भाईयों से कभी नजर नहीं मिललाई, उसने कैसे आज सारी सीमाओं और वर्जनाओं को लांघते हुए अपना लिहाफ उतारकर फैंक दिया? आखिरकार उसे एक ही रास्ता नजर आया । क्या पता इसी से कुछ पता चल जाए ।

‘अरे, फजल, अपणी मां ए भेजियो!’ जमाल खां ने अपने लड़के को आवाज देते हुए कहा । नसीबन जैसे पहले से इसके लिए तैयार बैठी थी ।

‘नसीबन, तोहे कुछ अंदाजो है के ई डमरू आज कैसे उखड़ रो है । कैसे याको ब्यौहार बदलगो है?’ जमाल खां ने पत्नी से पूछा ।

‘ना, मोहे तो कुछ पतो ना है ।’ नसीबन ने घर की मुखिया होने के नाते अपना फर्ज निभाते हुए, मामला निपटाना चाहा ।

‘तो फिर, तम सारी दौर-जिठानी आपस में काई बात पे जिद री ही?’ कमाल खां ने अपनी

भावज के झूठ बोल पकड़ते हुए कहा।

‘अच्छी ऊ S S S! ऊ तो मैं या हरामण आमना ए डांट री ही के तू या डमरू ए जादा मत छेड़े कर.... पर ई कुलक्षणी माने जब न। वैसे ऐसा हँसी-ठट्ठा देवर-भावज में चलता रहवे हैं।’ हँसते हुए नसीबन ने बड़ी सफाई से मामले को दबाने की कोशिश की।

‘फिर ई डमरू किस ने भड़काओ है?’ इस बार जमाल खां इस उलझी हुई गिरह को सुलझाने की कोशिश करते हुए, पूरे दालान को सुनाते हुए खुद से बोला।

इसी बीज फजल ने जो सुराग दिया, उसे सुनते ही तीनों भाइयों का चेहरा तमतमाता चला गया।

‘अ S S ब समझ में आई के ई सारी बिदूया वा खबरी की पढ़ाई हुई है। ई सारी आग वाही की लगाई हुई है।’ जमाल खां ने उचकते हुए कहा।

‘वैसे, या खबरी का चौतरा पे कोई और भी बैठो हो?’ नवाब ने और गहरे तक उतरते हुए पूछा।

‘हां, ऊ फकीरा भी बैठो हो।’ फजल ने बताया।

‘जभी S S तो S S S! मैं भी तो कहूं कि ई डमरू ना, वाके भीतर कोई और ही बोल रो है। ई सारी लंका का खबरी और वा चकलेंडी फकीरा की फूंकी हुई है।’ कमाल खां ने मुंडी हिलाते हुए कहा।

‘कमालू, यार अभी चल पहले या जुगल जोड़ी को इलाज करके आए।’ रहस्य से परदा उठते ही नवाब तमतमाते हुए बोला।

‘ऐसी बेकूपी मत करियो। या जुगलजोड़ी ए तो पीछे भी देख लेंगा। फिलहाल काई तरह या डमरू को इलाज करो। कैसे भी याहे लेन में लाओ पहले।’ जमाल खां ने सारा ध्यान अब डमरू पर केंद्रित करते हुए, पूरे दालान से इस समस्या का समाधान करने की गुहार की।

मैंने बताया तो हो इलाज के याहे फिलहाल जमात कू तैयार करो। महीना-डेढ़ महीना पीछे अपने आप ठंडो हो जाएगो।’ कमाल खां ने एक बार फिर अपना तरीका आजमाने का सुझाव देते हुए कहा।

‘वैसे मैं एक बात कहूं, अगर तीनों भाई बुरा ना मानो तो?’

नसीबन के इतना कहते ही पूरे दालान की नजर उस पर ठहर गई।

‘मेरी मानो तो कहीं सू कोई बुरी-बावली लाके याका गल्ला में बांध देओ। अपने आप लेन में आ जाएगो।’

‘कहा कही, कोई बुरी-बावली लाके याका गल्ला में बांध देओ! तेरो दिमाग तो खराब ना होगो! याहे अब कौण ओटेगो?’ जमाल खां ने पत्नी को डांटते हुए कहा।

‘जब उमर ही अगर अभी याका खूंटा सू काई ए लाके बांधा देता, तो आज ई नौबत ना आती, तमने तो ई सोच राखी है कि मुफ्त को बधिया बैल है, जोत लेओ जितनो जोतो जाए... भाई तो तमने ई कदी मानो ही ना।’ नसीबन भरे हुए मन से बोली।

नसीबन की इस मलामत पर तीनों भाइयों से कुछ भी कहते नहीं बना। बनता भी कैसे, नसीबन ने कुछ गलत थोड़ की कहा है। गहराती रात पर तेजी से चढ़ती अंधेरे की परत के बीच दालान में सन्नाटा-सा छा गया।

‘और अगर ई डमरू चुप रहे तो या घर की एक मलूकजादी वाहे चुप ना रहण देए। जब देखो वाहे बेमतलब कौंचती रहवे है। ई तो ऊ बात होगी के रांड तो रंडापा काट लेए, पर ये डेड रंडुआ

काटण देएं जब न!' परोक्ष रूप से फातिमा अपनी दौरानी आमना की ओर इशारा करती हुई झल्लाई।
'जो बीतगी, वापे माटी गेरो। अब कोई रास्ता ढूंढो!' जमाल खां ने एक बार फिर सबसे गुहार की।

'वैसे अभी भी कुछ ना बिगड़ो है। कहीं सू कोई पारो लोक याका गल्ला में लटका देओ।' नसीबन ने भी अपना पुराना सुझाव दोहराते हुए कहा।

'तैने ई कहा रट लगा राखी है। कदी कहरी है याका गला में कोई बुरी-बावली लाके बांध देओ, तो कदी कह री है कोई पारो लाके लटका देओ! तू ऐसे कर अपणी या सलाह धरी राख।' जमाल खां ने इस बार नसीबन को बुरी तरह झिड़क दिया।

'या काम ए करवा तू जरूर या घर का पाड़-तिवाड़ करवाएगी।' अपने सबसे बड़े जेठ का समर्थन मिलते ही आमना ने एक तरह से अपनी जिठानी के सुझाव में पलीता लगा दिया।

'ये सारा बीज तेरा ही तो बोया हुआ है गुंडी! कदी तू वाहे कलसंडा कहवे है तो कदी कुछ।' नसीबन ने अंततः नोहरे में आमना द्वारा कही गई सारी बातें बता दीं।

नसीबन का इतना कहना था कि नवाब तमतमाते हुए तेजी से अपनी पत्नी आमना की ओर लपका, तेरो ही फूटो जा रो है सारो जोबन और रूप। ऐसी भी हूर की परी ना है तू!

यह तो गनीमत था कि बगल में बैठे कमाल खां और जमाल ने नवाब को रोक लिया वरना आमना की आज अच्छी-खासी आरती उतर जानी थी। उधर फातिमा भी जैसे फट पड़ी, 'तू भी आमना बेमतलब फटा में पांव देती फिरे है। पतो ना, या डमरू सू तोहे कहा बैर है जो ई तोहे फूटी आंख ना सुहावे है।' हमारी तो कुछ समझ में ना आ री है के आखर ते यासू कहा चाहवे है!

'चाहवे कहा, ई जभी राजी रहेगी जब काई दिन याके लिपट जाएगो!'

'हूं S S S लिपट जाएगो....या भोला में मत रहियो... हरामी ए कच्यो चबा जाऊंगी।' आमना अपने पति नवाब के कहे पर फुंफकराते हुए बोली।

'तो तू काहे को वाहे छेड़े है। बेमतलब, आ बैल मोहे मार!' नवाब ने डांटते हुए कहा।

नवाब और आमना यानी पति-पत्नी की इस नॉक-झोंक में किसी ने बाधा डालना ठीक नहीं समझा। बस, लोकाचार का पालन कर सब चुपचाप देखते रहे।

'चलो छोड़ा, अभी सोओ। याहे पीछे देखूंगा।' बात को यहीं खत्म कर जमाल खां खड़ा हो गया कि कहीं ऐसा न हो कि नसीबन के सुझाव का उसकी दौरानी फातिमा भी समर्थन कर बैठे। खुदा न खास्ता यह बात डमरू तक पहुंच गई, तो ऐसा न हो कि जो डमरू आज हज जाने की बात कर रहा है, कल सचमुच वह इसकी जिद न कर बैठे जैसे उसकी आवाज नसीबन कह रही है। इससे पहले कि नसीबन अपने देवर डमरू के भविष्य को लेकर और भावुक होती, जमाल खां इस मुद्दे को यहीं दफनकर दालान से बाहर निकल आया।



एकाकी

गी.द. मोपासां

अपने मित्र के यहां हमने शानदार डिनर लिया। खाने के बाद वहां उपस्थित मेरे एक पुराने मित्र ने मुझसे कहा :

‘चलो, पास की सड़क चैम्स एलिसीस में घूमने चलते हैं।’

उसकी बात मानते हुए, मैं उसके साथ घूमने निकला। पर्णविहीन वृक्षों तले हम देर तक धीरे-धीरे चहलकदमी करते रहे। कहीं कोई आवाज नहीं थी सिवाय पेरिस शहर की लगातार सुनाई देने वाली भ्रांत ध्वनि के। ताजा हवा के झोंके हमारे चेहरों को छू रहे थे और श्यामल आकाश में असंख्य सितारों के समूह स्वर्ण कणों की तरह बिखरे हुए थे।

मेरे मित्र ने मुझसे कहा : ‘पता नहीं क्यों मैं किसी अन्य स्थान की अपेक्षा यहां रात में बेहतर ढंग से सांस ले सकता हूं। मुझे लगता है कि मेरे विचार यहां खुलने लगते हैं। कभी-कभी मेरे मन में एक प्रकार का मंद प्रकाश फैलने लगता है और किसी एक क्षण मुझे विश्वास होने लगता है कि चीजों के दिव्य रहस्य का बस पता चलने वाला है। तभी मानो खिड़की बंद हो जाती है और मेरी दृष्टि के सामने सब समाप्त हो जाता है।’

टहलते हुए बीच-बीच में हमें झाड़ियों के साथ-साथ दो छायाएं सरकती हुई दिखाई दे रही थीं। तभी हम एक बेंच के पास से गुजरे जहां दो प्रेमी अलग-बगल बैठे हुए थे। वे एक-दूसरे को कसे हुए मानो एक हो गए थे।

मेरा मित्र कहता रहा : ‘बेचारे! उनपर मुझे चीज नहीं बल्कि बड़ी दया आती है। मानव जीवन के समस्त रहस्यों के बीच यह वह रहस्य है जिसके मर्म को मैं समझ सका। हमारे जीवन की गहन पीड़ा इस वास्तविकता में है कि हम सदा अकेले हैं- और हमारे सभी प्रयत्न, हमारे सभी कार्य इस एकाकीपन से पलायन करने को इंगित करते हैं। वहां बेंच पर वे दोनों प्रेमी, हमारी तरह, हर किसी प्राणी की तरह, अपने अकेलेपन को समाप्त करना चाह रहे हैं, मानो एकाध मिनट के लिए ही। किंतु वे अभी भी अकेले हैं और हमेशा अकेले रहेंगे... और हम भी अकेले रहेंगे।’

‘लगता है कि हम सबके लिए कमोबेश बस ऐसा ही है। कुछ समय के लिए मैंने अपने जीवन के इस भयानक एकाकीपन को समझने, इसका पता लगा लेने के गहन दर्द को सहा है- और मैं जानता हूं कि कोई भी, हां कोई भी चीज, इस एकाकीपन को खत्म नहीं कर सकती। तुम सुन रहे हो न? हम जो भी करें, हमारा जो भी प्रयत्न हो, हमारे हृदय की जो भी चाहत हो, हमारे चुंबन हों, हमारे आलिंगन हों- हम सदा अकेले हैं। आज रात मैं तुम्हें अपने साथ टहलने ले आया ताकि मैं अपने घर जाने से बच सकूं क्योंकि मैं अब अपने घर में एकाकीपन से बेहद पीड़ित हूं।... और इससे

मेरा क्या भला होगा? मैं तुमसे बात कर रहा हूँ, तुम मुझे सुन रहे हो, फिर भी हम दोनों अकेले हैं, हम साथ-साथ हैं फिर भी अकेले हैं। समझे न तुम?’

शास्त्रों में लिखा है: ‘धन्य हैं भोले-भाले! वे अपनी खुशी के भ्रम में होते हैं। उन्हें हमारे एकाकीपन की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। वे मेरी तरह भटकते नहीं- जहां स्पर्श न हो सिवाय भीड़ के; जहां आनंद न हो- हो तो केवल कभी न समाप्त होने वाला अकेलापन और इस अकेलेपन के बोध को समझने, देखने, दिव्य बनाने और हमेशा पीड़ित रहने का आत्म संतोष।’

‘तुम्हें लग रहा होगा मैं जरा विक्षिप्त हो गया हूँ- है न? सुनो मेरी बात। जब से मैंने अपने अस्तित्व के एकांत को महसूस किया है, मुझे लगता है मैं किसी अँधेरी सुरंग में गहरे और गहरे डूबा जा रहा हूँ- मुझे इसकी दीवारों का पता नहीं, इसके अंत का पता नहीं और लगता है शायद कि यह अंतहीन है। मैं डूब रहा हूँ और मेरे साथ, मेरे आसपास कोई नहीं; ऐसी अँधेरी यात्रा में कोई और व्यक्ति मेरे साथ नहीं है। यह सुरंग जीवन है। कभी-कभी मुझे शोर, तरह-तरह की आवाजें और भ्रांत ध्वनियां सुनाई देती हैं। एक आशंका के साथ मैं उन भ्रांत ध्वनियों की ओर बढ़ता हूँ।...किंतु मैं कभी भी नहीं जान पाया कि वे कहां से आ रही हैं; मुझे कभी कोई नहीं मिला; चारों ओर से इस अँधेरे से घिरा, मुझे यहां कभी किसी का स्पर्श नहीं हुआ। समझे तुम?’

कुछ लोगों ने कभी-कभी इस अकथ्य पीड़ा का पता लगाया है। ‘द मिसे’ की अभिव्यक्ति है: ‘कौन आ रहा है? कौन बुला रहा है मुझे? कोई भी नहीं।’

मैं अकेला हूँ। घड़ी का नाद है एक बजे का।

ओ, एकांत! ओ, पीड़ा!’

‘किंतु उसके लिए यह केवल एक क्षणिक संदेह है, न कि स्पष्ट रूप से निश्चित बात, जैसा कि मेरे साथ है। वे एक कवि थे, उन्होंने जीवन को अतिकल्पनाओं और स्वप्नों से भर दिया। वे वास्तव में कभी भी अकेले नहीं थे।...किंतु मैं...मैं अकेला हूँ।’

‘गुस्ताव फ्लोबर्ट, इस दुनिया के सबसे नाखुश लोगों में से एक थे, क्योंकि वे अत्यंत पारदर्शी थे- उन्होंने अपनी एक गर्लफ्रेंड को निराशा भरे ये शब्द लिखे थे : ‘हम सब एक मरुस्थल में हैं। यहां कोई भी किसी को नहीं समझता।’

‘हां, कोई भी किसी को नहीं समझता- कि कोई क्या सोचता है, क्या कहता है, किस हेतु प्रयास करता है। क्या पृथ्वी जानती है कि आकाश में उन सितारों के भीतर क्या हो रहा है जो अग्नि-उल्काओं की तरह विस्फोटित हो जाती है- वे इतनी दूर हैं कि कुछ की ही चमक हम देख पाते हैं? सोचो, उन असंख्य सितारों के समूह के बारे में जो खोए हैं अनंत में, परंतु जो होंगे एक-दूसरे के बहुत करीब, जिनसे निर्मित होता है एकीकृत रूप, जैसे कि अणुओं से निर्मित एक मानव-देह!’

‘ठीक इसी तरह एक व्यक्ति नहीं जान पाता है कि दूसरे व्यक्ति के भीतर क्या चल रहा है। एक-दूसरे के बीच हमारी दूरियां उन सितारों की अपेक्षा अधिक हैं और हम बहुत विलग हैं क्योंकि मुश्किल है एक-दूसरे के विचारों को जान पाना।’

‘जिन्हें हम नहीं जान सकते, उनसे लगातार करीबी संपर्क बनाए रखने से विकराल क्या किसी और चीज के बारे में तुम जानते हो? हम एक-दूसरे से प्रेम करते हैं मानो हम दोनों बेड़ियों से बंधे हैं, हम करीब हैं, एक-दूसरे की ओर अपनी बांहें फैलाए, किंतु एक-दूसरे तक नहीं पहुंच पाते हैं। हम एक हो जाने की पीड़ादायक जरूरत की गिरफ्त में होते हैं, किंतु हमारे प्रयास बंजर, हमारे समर्पण व्यर्थ, हमारे

विश्वास निष्फल, हमारे आलिंगन शक्तिहीन, हमारे स्पर्श निरर्थक हो जाते हैं। जब हम एक-दूसरे से जुड़ना चाहते हैं, एकाएक हमारे भावावेग हममें एक-दूसरे के प्रति केवल टकराहट पैदा करते हैं।’

‘मैं जब अपने किसी मित्र के सामने अपना हृदय खोल देता हूँ तब उससे ज्यादा मैं कभी भी अकेला महसूस नहीं करता क्योंकि तब मैं इस अविजित बाधा को बेहतर ढंग से जान पाता हूँ। सामने खड़ा है मेरा मित्र- उनकी आंखें देख रही हैं मुझे, किंतु उन आंखों के पीछे छुपे उसके मन को मैं बिलकुल नहीं जान पाता। वह मुझे सुनता है। वह क्या सोच रहा है? हां, वह क्या सोच रहा है? तुम इस पीड़ा को नहीं समझ सकते! शायद वह मुझसे नफरत करता है या मेरा तिरस्कार करता है या मेरी हँसी उड़ाता है! मैं जो कहता हूँ उस पर वह विचार करता है, मेरा आकलन करता है, मेरा उपहास करता है, मेरी निंदा करता है और मुझे औसत दर्जे का या मूर्ख समझता है।’

‘वह क्या सोचता है यह मैं कैसे जानूँ? कैसे जानूँ कि वह मुझसे उतना ही प्यार करता है जितना कि मैं उससे... एवं उसके उस लघु मस्तिष्क में क्या चल रहा है? किसी व्यक्ति के अज्ञात विचार, छुपे व स्वतंत्र विचार रहस्यमयी होते हैं- हम उन विचारों का न तो पता लगा सकते हैं, न ही उन्हें नियंत्रित कर सकते हैं, हम उन पर न तो हावी हो सकते हैं, न ही विजय प्राप्त कर सकते हैं!’

‘और मैं! मैं स्वयं को पूर्णतः अर्पित करना चाहता हूँ, अपने मन के सभी दरवाजे खोल देना चाहता हूँ, किंतु मैं सफल नहीं हो पाता। मेरे मन की अतल गहराइयों में एक हिस्सा ऐसा है, जिसे कोई नहीं जान सकता। कोई भी कभी भी न तो इसका पता लगा सकता है, न ही वहां तक पहुंच सकता है; क्योंकि कोई भी मेरे समान नहीं है, क्योंकि कोई भी किसी को नहीं समझता।’

‘कम-से-कम अब इस क्षण तुम मुझे समझ रहे होगे? है न? नहीं तुम्हें लगता है मैं सनकी हूँ! तुम मुझे देख रहे हो, मेरे बारे में सोच रहे हो! तुम खुद से पूछ रहे होगे: ‘उसके साथ आज रात यह क्या हो गया है?’ किंतु यदि कभी भी तुम्हें मेरी भीषण, तीक्ष्ण पीड़ा का बोध हो जाए तो मेरे पास आकर यह जरूर कहना : ‘मैंने तुम्हें समझ लिया है!’ ... और इससे मुझे खुशी होगी, भले ही यह पल भर के लिए हो।’

‘स्त्रियां मुझे मेरे अकेलेपन का और भी अधिक एहसास कराती हैं। पीड़ा ही पीड़ा! ओह, स्त्रियों ने मुझे बहुत पीड़ित किया क्योंकि अक्सर उन्होंने पुरुषों से भी कहीं ज्यादा मुझे अकेले नहीं होने के भ्रम में रखा।’

‘जब एक व्यक्ति प्रेम में पड़ता है, वह फूला नहीं समाता। उसे एक अलौकिक अनुभूति होती है! क्या तुम जानते हो कि ऐसा क्यों होता है? क्या तुम जानते हो कि यह असीम खुशी कहां से आती है? यह बस इसलिए कि उसे लगने लगता है कि अब वह अकेला नहीं है। लगता है कि मनुष्य का एकाकीपन और बेखुदी खत्म हो गई है। कितनी गलत धारणा है यह!’

‘जीवन में प्रेम की अनंत आवश्यकता हमारे एकाकी हृदयों को सालती है एवं हमारे लिए इससे भी अधिक पीड़ादायक तो स्त्रियां हैं : हमारा सबसे बड़ा भ्रांतिपूर्ण स्वप्न।’

‘तुम्हें उस लंबे केशों वाली आकर्षक और उन्मत्त कर देने वाली स्त्री के सामने बैठकर आनंदपूर्वक बिताए समय के बारे में पता है। कौन सा उन्माद हमारे मन को गुमराह करता है। कौन सी भ्रांति हमें अपने आपे से बाहर कर देता है! क्या ऐसा नहीं लगता कि वह और मैं- हम दोनों शीघ्र एक हो जाएंगे? किंतु वह ‘शीघ्र’ कभी नहीं आता; और कई हफ्तों की प्रतीक्षा, आशा और खुशी के छलावे के बाद एक दिन फिर मैं स्वयं को इतना अधिक अकेला पाता हूँ, जितना मैं कभी नहीं था।’

‘प्रत्येक चुंबन, प्रत्येक आलिंगन के बाद अलगाव बढ़ता है। और यह बहुत ही अफसोसजनक, बहुत ही पीड़ादायक है!’

कवि सली प्रुडोम ने भी तो लिखा है :

‘ये स्पर्श, ये चुंबन है बेचैनी भरे भावावेग,

दयनीय प्रेम का निरर्थक प्रयास यह-

देहों के माध्यम से आत्माओं के असंभव मिलन का उपक्रम।’

‘और फिर अलविदा। फिर सब कुछ समाप्त। तुम शायद ही उस स्त्री को पहचान पाओ जो तुम्हारे जीवन के किसी क्षण तुम्हारे लिए सब कुछ थी; निःसंदेह जिसके अंतरंग और सामान्य विचारों को तुम कभी नहीं जान पाए।’

‘उसी समय यह मालूम पड़ता है कि एक रहस्यमयी अनुबंध एवं इच्छा व आशा के संपूर्ण मिलन पर जब तुम उसकी मन की गहराई में उतरकर ध्वनित होते हो तो तुम्हारा एक, हां केवल एक शब्द भी कभी-कभी तुम्हारी गलती को प्रकट करता है- रात में आकाशदीप की तरह, तुम दोनों के बीच की काली खाई को प्रदर्शित करता।’

‘किंतु फिर भी इस दुनिया की सबसे अच्छी बात है उस स्त्री के साथ एक शाम बिताना जिससे तुम प्रेम करते हो- बिना कुछ बोले, उसकी उपस्थिति भर की अनुभूति के साथ पूर्णतः प्रसन्न रहते हुए। इससे अधिक कुछ और न चाहो क्योंकि आज तक कभी भी दो व्यक्ति एक नहीं हो सके हैं।’

‘अब अपने लिए तो मैंने अपने मन के सारे दरवाजे बंद कर दिए हैं। मैं किसी को भी नहीं बताता कि क्या है मेरा विश्वास? मैं क्या सोचता हूँ या मैं क्या चाहता हूँ? मैं जानता हूँ कि मैं अपने भीषण एकांत से अभिशप्त हूँ- मैं चीजों को देखता हूँ पर अपने विचार अभिव्यक्त नहीं करता। मेरे लिए विचारों, तर्कों, सुखों, विश्वासों का क्या मतलब? किसी के साथ कुछ भी साझा नहीं कर पाने से किसी भी चीज में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरे अदृश्य विचारों का पता नहीं चल पाता। जब मुझे बोलने की बिलकुल इच्छा नहीं रहती, तब मैं हर दिन के सवालियों के वही घिसे-पिटे जवाब देता हूँ और मुस्करा देता हूँ, जिसका अर्थ ‘हां’ होता है। तुम समझ रहे हो न मुझे?’

हम लंबे रास्ते पर चलते-चलते आर्क-डि-ट्रायम्फ तक पहुंच गए। फिर उसके बाद पीछे मुड़कर प्लेस-डी-ला-कॉनकार्ड के लिए चल पड़े। इस दौरान वह सब कुछ धीरे-धीरे बताता रहा- उसने कई और बातें जोड़ीं जो मुझे याद नहीं।

अचानक वह पेरिस के फुटपाथ पर स्थित ग्रेनाइट के ऊंचे स्मृति-स्तंभ की ओर इशारा करते हुए रूक गया। तारों भरे आकाश की ओर देश रही वह ऊंची मिस्री आकृति थी- एक निर्वासित स्मारक, जिसके दोनों ओर से देश का इतिहास अजीब चिह्नों में अंकित था।

मेरे मित्र ने कहा :

‘देखो, हम सब उस पत्थर की तरह हैं।’

इसके बाद वह बिना कुछ बोले मुझसे दूर चला गया।

क्या वह नशे में था? क्या वह सनक गया था? क्या वह बुद्धिमान था? मैं अभी भी नहीं जानता। कभी-कभी मुझे लगता है कि वह सही था तो कभी-कभी लगता है कि वह पगला गया था।

हिंदी अनुवाद : बालकृष्ण काबरा ‘एतेश’

दीवार में दरवाजा

एच.जी. वेल्स

अभी मुश्किल से तीन महीने पहले की बात है, जब हमारी एक अंतरंग बैठक में लोनियल वालेस ने मुझे दीवार में दरवाजे का वृत्तांत सुनाया था। उस समय मैंने यह माना था कि कम से कम उनके तई यह एक सच्ची कहानी थी।

उनका वृत्तांत सुनाने का ढंग इतना सहज और स्वाभाविक था कि मैं उसकी सच्चाई के प्रति आशंकित हो ही नहीं सकता था लेकिन, अगली सुबह, अपने ही घर में जब मैं सो कर जागा, तब उस प्रसंग को लेकर मेरे भीतर का परिदृश्य बदल चुका था। अपने बिस्तर पर लेटे-लेटे मैंने उसे दोहराया, तो उस किस्से के ऊपर चढ़ा चमत्कार का आवरण उतर चुका था, उसके धीमे लेकिन भेदते हुए स्वर का जादू फना हो चुका था, और किस्से की नंगी सच्चाई मेरे सामने उभरकर आ गयी थी। उस बीती शाम की बात ही कुछ और थी। मंद रौशनी वाले कमरे में, मेज पर खाने-पीने की व्यवस्था पूरी तरह उत्सव जैसा माहौल बनाए हुई थी। हमने शानदार भोज लिया था और सब कुछ इतना रोमांटिक था, जिसमें ठोस यथार्थ की कोई गुंजाइश नहीं थी, लेकिन सुबह लोनियल वैलेस के किस्से को मैं एकदम, बे-पर्दा सच की तरह देख पा रहा था...मैं सोच रहा था कि उसने वृत्तांत को कितना रहस्यमय बना दिया था, लेकिन यह भी सच ही था कि वह बताना भी बहुत ही खूबसूरती से निभाया गया था...!

उसके बाद, मैं अपने बिस्तर पर उठकर बैठ गया था, और सुबह की पहली चाय के घूंट भरते हुए उस वाक्ये को दोहरा रहा था, लेकिन इस बार वह दोहराना यथार्थ की रौशनी में था। अब वह मुझे एक असंभव से संस्मरण जैसा प्रतीत हो रहा था... मैं अब भी समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं कल के उस नायाब अनुभव को किन शब्दों में जाहिर करूं। दरअसल, वह बता पाना भी मुश्किल ही है।

खैर, मैं इस उलझन अब परे ही रखता हूँ। इस संदर्भ में मैं अब अपने सवालियों से उबर गया हूँ। मैं अब भी यही मानता हूँ, जैसा कि सुनते समय भी मेरा यही विश्वास था, कि वैलेस ने अपने भरसक अपने मन में छिपाए इस सच्चे वृत्तांत को, पूरी ईमानदारी के साथ मुझसे साझा किया है। यह उसका खुद का देखा भोगा हुआ है, या यह बस उसका वहम है कि उसने ऐसा देखा, या उसे अकस्मात ऐसे संसार में जाने का मौका मिल गया जिसका वर्णन करना उतना ही कठिन है जितना इस पर विश्वास कर लेना.. या वह किसी ऐसी परिकल्पना की गिरफ्त में आ गया जिससे वह आजीवन छूट नहीं पाया। इन में से कौन सी स्थिति सही है, मैं इसका कोई भी अंदाज लगाने की स्थिति में नहीं हूँ। खास तौर पर, उस शख्स यानी लोनियल वैलेस की मौत के बाद, जब किसी भी

सवाल का जवाब मिलने की गुंजाइश भी खत्म हो गयी।

अब यह पाठकों पर है कि वह इसका क्या सार निकालते हैं?

मैं याद नहीं कर पा रहा हूँ कि आखिर मेरी ऐसी किस बात से, किस व्यवहार या किन परिस्थितियों में वह इनसान लोनियल वैलेस बिना कुछ कहे मुझ पर इतना अंतरंग विश्वास करने लगा। लेकिन यह सच था। मैं समझता हूँ कि अपने इस मनगढ़ंत और अवास्तविक प्रसंग की असलियत को बचाने के लिए वह उसे साझा करने के लिए आगे बढ़ा और मैंने उसे मान देना स्वीकार कर लिया, हालांकि केवल निराशा ही मेरे हाथ आई। फिर उसने आतुरता से भरकर कहना शुरू किया, 'मुझे उस वृत्तांत की तन्मयता ने बेबस कर दिया है..'

जरा ठहर कर उसने बात आगे बढ़ाई, 'मुझे पता है, मैं लापरवाह हो गया था। यह कोई भूत प्रेत या आत्मा की कहानी नहीं है, बल्कि रेडमंड, यह एक बहुत अजीब सा प्रसंग है। यह मुझे बेचैन किए हुए है। मुझे एक ऐसी कहानी ने भीतर तक भेद रखा है, जिसने मेरे चारों तरफ के सारे प्रकाश को सोख लिया है और मैं एक भटकाव की स्थिति में आ गया हूँ।'

वह कुछ देर के लिए फिर चुप हो गया। एक अजीब से असुविधाजनक, लाज भरे, भाव ने उसे चुप करा दिया, वैसे ही, जैसे हम अपने दोस्तों के बीच छोकरीयों या किसी गंभीर प्रसंग को शुरू करने के पहले हो जाते थे।

उसने कहा 'तुम्हारी पढ़ाई शुरू से ही सेंट एलथेल्स्तन स्कूल में हुई', और फिर चुप हो गया। मुझे यह शुरूआत निहायत वाहियात लगी। उसने अपनी बात बहुत, खुद से लुका-छिपी खेलते हुए से ढंग से शुरू की, लेकिन बाद में वह सहज हुआ और उसने अपनी जिंदगी के कई छिपे हुए प्रसंगों को, कई खूबसूरत लम्हों की लाज भरी यादों को और अपनी बहुत सी उन सुषुप्त इच्छाओं को मुझसे साझा करने लगा, जिसके आगे दुनिया का तमाम दूसरा आकर्षण उसके लिए नीरस और सतही था।

अब, उसके चेहरे पर उसके भीतर के बहुत से मनोभाव और उसकी उत्कंठा की तस्वीर उभर आई थी और मुझे उसे पढ़ते हुए उसकी बेचैनी तक पहुंच पाने का जरा सा रास्ता नजर आने लगा था। मैंने जैसे कुछ पा लिया था जिसमें मैं उसकी अपने बाहरी परिवेश से विरक्ति को उसकी सघनता के साथ समझ सकता था। मुझे याद आया, एक बार किसी महिला ने लोनियल के बारे में मुझे बताया था,... किसी स्त्री से वह बहुत प्रेम करता था..और अचानक उसका उस स्त्री के प्रति लगाव एकदम खत्म हो गया.. वह हमें तुम्हें, सब को भूल जाता है और सबके प्रति एकदम उदासीन हो जाता है।

यह उदासीनता उसके भीतर एक स्थायी भाव नहीं बनी। लोनियल वैलेस की चेतना संसार की ओर वह एक असाधारण कामयाब इनसान बन गया। उसको काम-धंधे में तरक्की मिली। मुझे पछाड़कर वह न जाने कब का आगे बढ़ चुका था, और वह नाम और शोहरत की उस ऊंचाई तक पहुंचा जहां मैं कोशिश करके भी नहीं पहुंच पाया। उसकी उम्र अभी भी सिर्फ उनतालीस साल की थी, और लोगों का कहना था कि अगर वह जिंदा रहा होता, तो जरूर नई संसद में उसकी जगह होती। स्कूल में वह हमेशा, बिना किसी मुश्किल के, मुझसे आगे रहता था। स्कूल से लेकर वेस्ट केनसिंगटन में बने सेंट एलथेल्स्तन कॉलेज के वर्षों तक हम साथ-साथ पढ़ते रहे। स्कूल में उसका दाखिला मेरे साथ, मेरे बराबर ही हुआ था लेकिन देखते-देखते, अपने परीक्षा परिणामों और छात्रवृत्तियों के दम पर स्कूल भर में छा गया। मैंने भी खुद को औसत से बेहतर ही बना कर रखा, अपने स्कूल में ही मैंने उससे सबसे पहले 'दीवार में दरवाजे' का जिक्र सुना था, और उसके बाद अब, उसकी

मौत के बस एक महीना पहले ।

उसके अनुसार, वह दीवार में दरवाजा, एक सचमुच का दरवाजा था, उस सचमुच की दीवार के पार, जिसके उस तरफ बहुत सारी, कभी न खत्म होने वाली अनंत खुशियां थीं। अब मुझे लगने लगा है कि वह सब सच ही रहा होगा ।

जब यह प्रसंग उसकी जिंदगी में घटा, उस समय वह बस पांच छः साल का बच्चा रहा होगा । मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि जब वह मेरे सामने, बहुत धीमे स्वर में यह प्रसंग साझा करने बैठा था, उसने मुझे उस घटना की तारीख भी सोचकर बताई थी । उसने बताया था, 'वहां एक चट्टी सफेद दीवार थी जिस पर धूप चमक रही थी और उसके ऊपर एक रेंगने वाला कीड़ा बैठा हुआ था । यह बहुत साफ-साफ तो याद नहीं आ रहा है, लेकिन दीवार में एक दरवाजा था जिसका रंग हरा था । उस दरवाजे के बाहर एक चबूतरा बना था । दरवाजे के पास एक बेल फैली हुई थी, ऐसी बेल जो मुझे बहुत पसंद थी और मैं हर बरस उसके पत्ते इकट्ठा किया करता था । उस चबूतरे पर कुछ पत्ते बिखरे हुए थे, जो एक दम हरे थे । इसका मतलब था कि वह ताजे थे और अभी तक सूखकर भूरे बादामी नहीं हुए थे । वह जरूर अक्टूबर का महीना रहा होगा क्योंकि इस महीने में ही वह मेरी मनपसंद बेल सबसे ज्यादा हरी होती है.... और अगर मैं गलत नहीं हूँ, तो उस समय मैं पांच साल और चार महीने का हुआ था ।'

उसने बताया कि उसका जन्म समय से पहले हो गया था । उसने, आश्चर्यजनक रूप से, बहुत छोटी उम्र से ही बोलना सीख लिया था । वह शुरू से ही इतना समझदार और सयाना था जितने कि दूसरे सामान्य बच्चे सात-आठ बरस के बाद जाकर होते होंगे । उसकी मां की मौत उसके पैदा होने के दो साल बाद ही हो गई थी और वह एक लापरवाह लेकिन सख्त मिजाज नर्स के हाथों पल-बढ़ रहा था । उसका बाप एक निर्दय किस्म का इनसान था । वह पेशे से वकील था, उसका ध्यान बच्चे के पालन-पोषण पर तो नहीं रहता था लेकिन वह बेटे से बहुत सी जिम्मेदारी की उम्मीद रखता था । इन्हीं सब वजहों से उसकी जिंदगी बहुत नीरस और दुःख भरी थी... इसी के चलते एक दिन वह इधर-उधर भटक निकला ।

उसे यह कतई याद नहीं रहा कि वह किस उपेक्षा से दुःखी होकर भटकाव की ओर चल पड़ा, वह वेस्ट केनसिंग्टन की किन सड़कों पर भटक गया था, यह भी उसकी स्मृति से लोप था, लेकिन जो बात उसे बखूबी याद थी, वह थी सफेद दीवार, और उसमें बना हरा दरवाजा ।

उसकी स्मृति में बचपन का वह दृश्य साफ उभरकर आ गया । उस दरवाजे को देखते ही वह एक अजीब से मनोभाव से भर उठा । वह दरवाजा मानो उसे अपनी ओर खींचने लगा । वह अपनी इच्छा भर उतावला हो उठा कि वह भाग कर जाए और उस दरवाजे के पार निकल जाए । उसके विवेक में क्या यह स्पष्ट था, कि इस तरह किसी दरवाजे के पार चले जाना अकलमंदी नहीं है या यह गलत काम है, यह नहीं कहा जा सकता, लेकिन दरवाजे के उस आकर्षण के सामने एक विवेक तो था जो रुकावट बन रहा था । लेकिन दरवाजा खुला हुआ था और वह इच्छापूर्वक उसके पार जा सकता था ।

मैं उस छोटे बच्चे के चेहरे के उतार-चढ़ाव को पढ़ पा रहा था जिस पर आकर्षण और हिचकिचाहट की लहरें आ-जा रहीं थीं । यह बात भी सोच के परे नहीं थी कि उसके पिता को जब उसके इस तरह दरवाजे के भीतर चले जाने का पता चलेगा, तो वह बेहद नाराज होंगे ।

लोनियल वैलेस ने अपने संकोच के उन पलों का हाल मुझे बहुत विस्तार से बताया । फिर

वह दरवाजे की ओर बढ़ा। उसने अपने हाथ जेब में डाल लिए, और निहायत बाल सुलभ ढंग से सीटी बजाते हुए वह दीवार के छोर तक आगे बढ़ता चला गया। जैसा कि उसने याद करके बताया, वहां दरवाजे के बाहर कई खोके टाइप मैली कुचली दुकानें थीं, नल और पाईप का काम करने वाला प्लंबर, सस्ते सजावटी सामान बेचने वाला, टिन और तामचीनी के छोटे-बड़े मग्गे, और तमाम ऊटपटांग चीजें।.. वह कुछ देर बेमतलब उन दुकानों के सामने खड़ा होकर वह सामान देखने लगा, लेकिन नजर उसकी उस हरे दरवाजे पर ही टिकी हुई थी।

फिर उसने आगे बताया कि उसे अचानक किसी भावनात्मक आवेग ने बांध लिया और वह तेजी से उस दरवाजे की ओर दौड़ पड़ा, ऐसे कि किसी संशय को उसे रोक पाना संभव नहीं रह गया। उसके हाथ की थपकी सीधे उस दरवाजे पर पड़ी और वह उसे पार करके भीतर उस बागीचे में पहुंच गया जो उसे न जाने कब से बेचैन किए हुए था और उसकी उम्र भर की साध बन गया था। लोनियल वैलेस के लिए उस बागीचे में पहुंच जाने की अनुभूति मुझे बता पाना बहुत कठिन हो गया था।

वहां की हवा में कुछ बेहद खास था जो सांस के जरिए फेफड़ों में उतरकर बहुत अद्भुत, सुंदर और सुखद एहसास करा रहा था। उस हवा की पारदर्शिता का प्रभाव अनोखा था, जिसमें परिवेश के सारे रंग बहुत खुल कर बिखरे हुए लग रहे थे और जैसे उनमें से कोई विशेष आभा फूट रही थी। उस बागीचे में आ खड़ा होना एक अनूठा और विरल सा अनुभव था जो मन को आनंद से सराबोर कर रहा था। वहां सब कुछ इतना खूबसूरत था कि इस दुनिया का कोई भी बच्चा उसे देखकर प्रसन्नता का इतना अतिरेक पा सकता था जितना उसे अब तक कभी नहीं मिला होगा।

मुझे बताते समय, प्रसन्नचित्त भाव में मग्न, वैलेस जरा ठहरा और फिर उसने आगे कहना शुरू किया, 'देखो..'. उसके हाव-भाव में ऐसा विस्मय छलक रहा था, जो किसी अकल्पनीय दृश्य को देख कर, संशय से उपजता है। उसने कहा, '... वहां पर दो बड़े तेंदुए थे... सचमुच, चितकबरे तेंदुए, और मुझे उनसे कोई डर नहीं लग रहा था। लंबी दूरी तक जाता हुआ एक चौड़ा रास्ता था, जिसके दोनों ओर संगमरमर की छोटी बाड़ लगी हुई थी और उनके पीछे रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियां थीं। उन्हीं के बीच यह दोनों बहुत बड़े और मखमली से दिखने वाले तेंदुए एक गेंद से खेल रहे थे। फिर एक तेंदुए ने मेरी तरफ देखा और मेरे पास बढ़ आया। मैंने उसके कोमल सुडौल कानों पर हाथ फेरा। मेरे छोटे हाथ उसे छू कर और पकड़ कर महसूस कर रहे थे। ऐसे विलक्षण अनुभव से भरा वह बागीचा सचमुच बहुत अनोखा था। और कितना बड़ा था बागीचा..! अरे बाप रे, दूर तक फैला हुआ, चारों तरफ.. एक छोर पर बहुत बड़ी पर्वत शृंखला नजर आ रही थी। भगवान जाने, यह सब वेस्ट केनसिंग्टन में किस तरह आ गया था, और मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैं अपने घर ही आ गया हूं।'

कहते-कहते अपने में खोता हुआ वैलेस जरा चुप हो गया लेकिन उसने फिर आगे कहना शुरू किया।

'क्या बताऊं, जैसे ही उस दरवाजे ने मुझे अपनी भीतर लिया, मैं वह सड़क भूल गया जिसके चबूतरे से लगी वह खूबसूरत, मेरी मनपसंद बेल फैली थी। मैं उन दुकानदारों के खोके भूल गया, मैं घर या किसी भी तरह के अनुशासन की शर्त भूल गया, मेरे भीतर से सारा भय और संकोच हवा हो गया, यहां तक कि मैं जिंदगी की दूसरी सारी हकीकत भूल गया। उस एक ही पल में मैं किसी दूसरे लोक का नन्हा बच्चा बन गया जो भीतर तक आनंद विभोर था। यह एक बिल्कुल दूसरी ही तरह की दुनिया थी। इसमें गुनगुनी गर्माहट थी, रौशनी में बहुत ही खुशनुमा उजास था, छितराए

हुए बादलों के बीच आकाश की नीलिमा को सूरज की किरणें कुछ खास ही आभा दे रहीं थीं। मेरे सामने दूर तक जाता हुआ एक रास्ता था जिसके दोनों ओर ऐसे मनोरम फूलों से भरी क्यारियां थीं जिनका सौंदर्य मानो अलौकिक था, और थे दो बड़े तेंदुए... मैं निडर होकर उनके रेशमी मुलायम फर पर अपने हाथ फेर रहा था, उनके कानों को छू रहा था और कान के नीचे उस संवेदनशील हिस्से को टटोल रहा था जिसको छू लेने भर से वह सिहर जाते थे, उनकी ओर से मुझे ऐसा स्नेह मिल रहा था मानो वह मेरा वहां स्वागत कर रहे हों। मैं उस समय ऐसा महसूस कर रहा था जैसे मैं अपने घर में सहज भाव से पहुंचा होऊँ। उसी समय, सामने रास्ते पर एक सुंदर सी, लंबे कद की लड़की नजर आई। वह सीधे बढ़ते हुए मेरे पास आकर खड़ी हो गई और उसने मुझसे पूछा, 'कैसे हो?' फिर उसने मुझे अपने हाथों से उठा लिया, मुझे पुचकारा और फिर मुझे उतारकर, मेरी उंगली थामे हुए अपने साथ ले चली। मेरे मन में कोई अचरज या कौतूहल का भाव नहीं उपजा, लेकिन मेरा मन किसी ऐसी आनंदमयता से भर गया जो पता नहीं क्यों, अब तक अनदेखी और खोयी हुई थी। आगे रास्ते में लाल रंग की चौड़ी सीढ़ियां थीं कंटीले तारों की बाड़ से आगे बढ़ने पर ही नजर आई थी। उनसे ऊपर चढ़कर हम एक बहुत ही पुराने और विशाल छायादार पेड़ के सामने पहुंच गए। और उसके नीचे, पता है? लाल दरारों से सज्जित पेड़ के तनों के घेरे के बीच, खूबसूरत पत्थर की कई कुर्सियां बनी हुई थीं, जिन पर आराम से, मौज लेते हुए बैठा जा सके और उसके आसपास सुंदर सफेद बत्तखें बहुत दोस्ताना ढंग से घूम रहीं थीं।

इस बेहद मनमोहक वातावरण में मेरी वह सखी मुझे लेकर आगे चल रही थी। वह समय मेरी स्मृति में ठहरा हुआ है... उसका अपनापन भरा चेहरा और उसकी मधुर आवाज..वह मुझसे बहुत नरमाई से कुछ-कुछ पूछती जाती थी और उसके जवाब में मुझे बहुत कुछ नया और मजेदार बताती भी जाती थी। इतना मुझे याद है, लेकिन हमारे बीच क्या क्या बातें हुईं, मैं वह सब अभी याद नहीं कर पा रहा हूँ... अभी मेरे सामने एक फ्रांसीसी बंदर है बहुत साफ सुथरा उसके रोएं भूरे हैं और उसकी आंखों में एक आत्मीयता का भाव है। वह एक पेड़ से नीचे उतरा और मेरे बगल से दौड़ गया। उसने मेरी तरफ देखकर अपने दांत चियारे, और आकर मेरे कंधे पर हल्की सी थपकी दी। फिर हम अपने रास्ते पर आगे बढ़े।

कहते-कहते वह रुका।

'हूँ..' मैंने हुंकारी भरी, और कहा, 'फिर आगे..'

उसने आगे कहना शुरू किया,

'मुझे बहुत ज्यादा याद नहीं है... फिर हमारा सामना एक बूढ़े आदमी से हुआ जो तरह-तरह से सबका मनोरंजन कर रहा था.... इतना तो मुझे बखूबी याद है कि वह एक बहुत ही मनमोहक और शीतलता देने वाली जगह थी। उस बगीचे में सुंदर झरने लगे हुए थे। वहां सब कुछ दुनिया का सर्वश्रेष्ठ हाजिर था, जहां आकर दिल की सारी इच्छाएं पूरी हो सकती थीं। वहां बहुत से लोग थे, सब के सब बहुत ही सहृदय और प्रसन्नचित्त दिखने वाले... सब के हावभाव से यह स्पष्ट हो रहा था कि वह मुझे वहां देख पर खुश हो रहे हैं... उनके चेहरों की भाषा और उनकी छुअन यह बता रही थी कि मेरा वहां स्वागत है। उन्होंने जिस प्रेम भाव से मेरा हाथ थामा था, उसका ठीक यही मतलब था।'

कहते-कहते, बहुत आह्लाद से भरा हुआ वैसेस जरा रुका, और फिर आगे बोल पाने की स्थिति

में आ पाया,

‘मुझे वहां खेलने के लिए साथी मिले। मैं चूँकि बहुत अकेला बच्चा था इसलिए यह संग साथ मेरे लिए किसी नियामत से कम नहीं था। वह सब मेरे साथ मखमली घास के मैदान में खेलते रहे। वहां एक गोल दायरे में बनी क्यारी भी थी जिसमें बहुत से रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे और उनके बीच खेलने में मुझे बहुत मजा आ रहा था।

ओह, मेरी याददाश्त जरा चूक रही है, मैं बता नहीं पा रहा हूँ कि हमने क्या-क्या खेल खेले। मैं उसके बाद बहुत जोर दे कर और रो-रो कर याद करने की कोशिश करता रहा कि वह क्या खेल थे, ताकि मैं उन्हें बाहर के साथियों के साथ फिर खेल सकूँ, लेकिन वह मुझे याद नहीं आए, सिवाय इस अनुभूति के कि वह समय बहुत ही आनंदमय था और मैं उस आनंद को याद कर सकता था। हां, मुझे वहां के वह दो दोस्त बेशक याद थे जो मुझसे बहुत हिल-मिल गए थे फिर एक सांवले से चेहरे वाली स्त्री से मेरा सामना हुआ। वह एक लंबा सा, पीला धूसर रंग का गाउन पहने थी। उसका चेहरा जरूर कुछ उदासी भरा था लेकिन उसकी आंखें स्वप्निल थीं और उसने अपने हाथ में एक किताब धामी हुई थी। मुझे देखकर उसने मुझे आंखों से आने का इशारा किया और उसके बाद वह मुझे एक हॉल के उस पार एक गैलरी में ले गई। मैं जब उस स्त्री के साथ जा रहा था तब मेरे खेल के साथियों ने अपना खेल रोक दिया, और फिर मेरी तरफ देखकर उन्होंने चिल्लाकर कहा, ‘हमारे पास लौटकर जल्दी आना...’

साथियों की इस पुकार पर मैंने उस स्त्री के चेहरे की तरफ देखा, लेकिन उसने इस पुकार को बिल्कुल अनसुना कर दिया। उस स्त्री का चेहरा बहुत सौम्य और गंभीर था। वह मुझे लेकर भीतर गैलरी में गई और एक सीट पर मुझे लेकर बैठ गई। मैं भी उसके साथ बैठ गया। मेरे भीतर अब उस स्त्री के हाथ में ली हुई किताब के प्रति उत्सुकता थी। उस स्त्री ने किताब को अपने घुटनों पर रखा और खोलना शुरू किया। वह एक अद्भुत किताब थी जिसमें सारे चित्र सजीव थे। उस किताब में मैंने खुद को देखा...दरअसल, वह मेरी ही कहानी कहती हुई किताब थी। उसमें मेरे जन्म से लेकर अब तक की वह सब घटनाएं और वृत्तांत चित्रित थे जो मेरे जीवन में घटे थे। वह सचमुच बहुत ही रोमांचकारी अनुभव था, ऐसी किताब जिसके पन्नों में असली जिंदगी की सजीव तस्वीरें देखी जा रहीं थीं।’

इतना कहकर वैलेस जरा ठहरा और उसने मेरे चेहरे को ऐसे देखा जैसे मैं उसके कहे का विश्वास नहीं कर रहा हूँ।

मैंने उसका विश्वास लौटाया, ‘आगे सुनाओ, मैं समझ रहा हूँ..’

‘... उस किताब में वह सब मेरे असली जीवन के वृत्तांत थे... सचमुच। उसमें लोग आ-जा रहे थे। मेरी प्यारी मां, जिसे मैं आज तक नहीं भूला हूँ, मेरे कठोर हृदय पिता, मेरे घर के नौकर लोग और मेरे घर के बहुत सारे जाने पहचाने दृश्य... फिर इस बगीची का बाहर का दरवाजा.... वहां की भीड़ भरी सड़क.. मैंने अचंभित होते हुए उस स्त्री का चेहरा देखा फिर किताब के आगे के पन्ने सरसराने लगा। अंत में वह नजारा सामने आया जब मैं असमंजस और कौतूहल से भरा उस सफेद दीवार से लगी बगीची के हरे दरवाजे के सामने खड़ा था और अपने डर और अपनी उत्सुकता से जूझ रहा था। ‘उसके बाद...?’ मैंने उतावलेपन से भरकर उस स्त्री से पूछना चाहा लेकिन उसके हाथ की ठंडी छुअन ने मुझे रोक दिया। ‘आगे क्या है?’ मैं जिद्दी हो उठा और मैंने अपने छोटे-छोटे हाथों से

उस स्त्री की उंगलियों को अपने भरसक खींचना चाहा लेकिन वह स्त्री विचलित नहीं हुई, वह मुझ पर एक परछाई की तरह झुकी और उसने मेरी पलकें चूम लीं।

आगे किताब में कुछ भी नहीं दिखा... न वह मनमोहक बगीची, न वह तेंदुए, न वह लड़की जो मुझे उंगली पकड़कर ले गयी थी। वह बच्चे भी नहीं नजर आए जो मेरे साथ और खेलने को उतावले हो रहे थे। सामने बस लंबी सड़क नजर आ रही थी। ढलती शाम का वक्त हो रहा था और चिराग बत्ती जलने में अभी देर थी। मौसम बहुत ठंडा हो गया था, और मैं वहां खड़ा रो रहा था। रोते समय मेरी आवाज तेज थी। मेरे मन में इस बात का घर दुःख था कि मैं खेलते हुए उन दोस्तों के पास वापस नहीं जा पाया जो मुझे बार-बार वापस बुला रहे थे, 'जल्दी आना, लौटकर जल्दी आना।'

मैं बाहर खड़ा रो रहा था और यह कोई किताब का दृश्य नहीं था, बल्कि एक जिंदा हकीकत थी। वह खूबसूरत बगीची, वह मां के हाथ जैसा कोमल स्पर्श जिसके घुटने पर झुककर मैं किताब देख रहा था, वह सब गायब हो गया... कहां गया वह सब..? कहां गया...?'

वह फिर चुप हुआ और अपने सन्नाटे में खो गया...

'ओह, यह वापसी कितनी दर्द भरी रही।' वह धीरे से बुदबुदाया।

'आह, सचमुच... उसके बाद...?' मिनट भर चुप रहकर मैंने पूछा।

'मैं एक बेचारा बदनसीब बच्चा था तब, जो एक बार फिर इस बेरहम दुनिया में ला पटका गया था। जब मेरी चेतना लौटी, मुझे बहुत सी बातों का एहसास हुआ और मेरे भीतर से मेरा बेकाबू दुःख बह निकला... शर्म और हताशा से भरा मैं खुले आम रोता हुआ घर लौटने लगा। मुझे अभी भी वह सुनहरे फ्रेम के चश्मे वाला बुजुर्ग आदमी याद है जिसने मुझे अपने छाते में समेटते हुए मुझसे पूछा था, 'प्यारे नन्हें बच्चे, क्या तुम घर का रास्ता भूल गए हो..?' और मैं लंदन में ही रहने वाला पांच बरस से भी बड़ा बच्चा एक पुलिस वाले के साथ, रोता सुबकता, डरा हुआ सा घर पहुंच रहा था। भीड़ रुक-रुक कर मुझे देख रही थी। वह बेहद मनमोहक बगीची पीछे छूट गई थी और मेरे आगे अब बस मेरे पिता का घर था।

'बस, इतना ही है जो मैं उस बगीची के बारे में याद कर सकता हूं। वह बगीची मुझे बेहद याद आती है, और वह याद मुझे अब भी कचोटती है। यह भी सच है कि मैं उस अद्भुत, धुंधलाई सी अलौकिक दुनिया के अनुभव के बारे में किसी को बता नहीं सकता। वह सच्चाई, जो दुनिया की रोजमर्रा की हकीकत से बहुत फर्क है, लेकिन जो मेरे साथ सचमुच घटित हुई थी। अगर वह सपना भी है, तो भी वह दिन दहाड़े देखा गया अजीबोगरीब सपना है। हूं.. जाहिर सी बात है कि इस पर मुझे न जाने कितने और कैसे मुश्किल सवालों का सामना करना पड़ा। मेरी चाची, मेरे पिता, मेरी नर्स और गवर्नेस सब के सब मेरे पीछे पड़ गए थे।

मैंने उन्हें बताना भी चाहा लेकिन मेरे पिता ने मुझे झूठ बोलने के लिए सजा दी। बाद में मैंने अपनी चाची को बताना चाहा तो उन्होंने भी यही कहते हुए मेरे कान खींचे कि मैं अब भी अपनी बदमाशी पर कायम हूं। फिर, जैसा कि मैंने बताया, सबने जिद पकड़ ली कि वह मुझसे इस बारे में कुछ नहीं सुनेंगे। यहां तक कि, मुझसे मेरी कहानियों की किताबें भी छीन ली गईं क्योंकि मैं बहुत ज्यादा मनगढ़ंत बातें बनाने वाला कहा गया। सच कह रहा हूं, मेरे साथ ऐसा ही बर्ताव हुआ। मेरे पिता पुराने जमाने के स्कूल से पढ़े हुए व्यक्ति थे, और वह मेरी कहानी को मेरी मक्कारी बताते जा रहे थे। मैंने अपना यह दुःख अपने तकिए को कह सुनाया। मेरा तकिया, जो अकसर मेरे मुंह से

बही लार और मेरे आंसुओं से तर और नमकीन बना रहता था। मैं भगवान से अपनी बहुत ही निराली और अजीब सी प्रार्थना करते हुए कहता था, 'हे भगवान। मुझे मेरे सपनों की उस बगीची में ले चलो। मुझे वहां ले चलो मेरे प्रभु...' मैं अक्सर उस बगीची का सपना देखता था। उसमें बहुत कुछ नया भी जुड़ता रहता था। पता नहीं, शायद मैं उसे नए सिरे से भी गढ़ता रहता था। तुम यह समझ सकते हो, मेरे सपने के इस रचने टूटने के क्रम में मेरे उस अनोखे अनुभव की ही भूमिका थी। उस खास अनुभव और बाकी बचपन के अनुभव के बीच एक चौड़ी खाई है। उसके बाद एक समय ऐसा आया जो मेरे लिए यह असंभव हो गया कि मैं उस अनोखे अनुभव की चर्चा किसी से करूं।'

इतना सुनकर मेरे मन में वैलेस से एक बहुत स्वाभाविक सा सवाल उठा,

'क्या उसके बाद, शुरूआती वर्षों में, तुमने फिर कभी उस बगीची तक पहुंचने की कोशिश की..?'

वैलेस का उत्तर था, 'नहीं'

अब मुझे उसका यह जवाब बहुत अजीब लगता है, लेकिन जो स्पष्टीकरण उसने दिया वह भी वजन रखता है। उस दिन के बाद से उस पर सब लोग गहरी नजर रखने लगे थे। उसका कहीं आना-जाना बहुत सी पाबंदी से बंध गया था। आगे जैसा उसने बताया, कि आठ नौ बरस की उम्र होते-होते वह इस बगीची प्रसंग को लगभग भूल गया। उसने याद दिलाया, तब वह स्कूल में मेरे साथ पढ़ने आ गया था। वैसे, वह भूल जाना भी कुछ अटपटा लगने वाला था। लेकिन साथ ही उसने यह भी कहा कि उसने वहां कभी किसी को यह नहीं जाहिर होने दिया कि उसके पास उसके कुछ खास गोपनीय सपने भी हैं।

कहते-कहते उसके चेहरे पर अचानक एक मुस्कान तैर आई... उसने मेरे आगे एक सवाल रख दिया, 'तुमने कभी मेरे साथ 'उल्टे-सीधे रास्ते' वाला खेल खेला है? नहीं न,' उसने आगे कहना शुरू किया, 'वह एक खास तरह का खेल था जिसे सभी खुराफाती बच्चे खेलते रहते थे। इस खेल में घर से स्कूल पहुंचने के नए-नए रास्ते खोजने होते थे। मेरे घर से स्कूल का रास्ता बहुत सीधा था। खेल यह था कि घर से जरा जल्दी निकालो और कोई भी अनजान सी उल्टी गली या सड़क पकड़कर स्कूल पहुंचने का नया रास्ता खोजो। एक बार मेरे साथ बहुत गड़बड़ हुआ। मैंने एक ऐसी अनजान सड़क पकड़ ली जो गंदी सी बस्ती से होती हुई कैंपडेन पहाड़ी के दूसरी तरफ निकलती थी। उस पर जाते हुए मुझे लगने लगा कि मैं फंस गया हूं और मुझे स्कूल पहुंचने में जरूर देर हो जाएगी। मैंने परेशान होते हुए यूं ही एक रास्ता पकड़ा और पाया कि अब वह मुझे देर से पहुंचने से बचा लेगा। मैं तेजी से चलने लगा। आगे बढ़ते हुए मुझे लगा कि यह तो मेरा जाना पहचाना रास्ता है.. कच्ची खोके टाइप दुकानें भी कुछ देखी हुई सी लगीं, और अचानक मुझे वहीं एक लंबी सफेद दीवार नजर आई जिसमें हरे रंग का दरवाजा था जो उसी मनमोहक बगीची में जाता था... मैं आश्चर्य और अतिरेक से भर उठा... यानी कि यह बगीची एक सचमुच की जगह है, न कि मेरा एक काल्पनिक सपना' वह पल भर को खामोश हो गया। आगे उसने फिर बोलना शुरू किया-

'बगीची में जाने वाले हरे दरवाजे के सामने होने के मेरे दूसरे अनुभव ने मुझे नया एहसास दिया कि एक स्कूल जाने वाले व्यस्त बच्चे के लिए एक ऐसी जगह भी है जहां भरपूर आनंद की अनोखी दुनिया सचमुच है। लेकिन इस बार उस दरवाजे के सामने होने ने मुझे जरा सा भी विचलित नहीं किया जो मैं बगीची में जाने को उतावला हो जाऊं। मेरे दिमाग में यह पूरी तरह साफ था कि मुझे स्कूल ठीक समय पर पहुंचना है। मैं अपने कभी भी देर से न आने का क्रम तोड़ना नहीं चाहता

था। ऐसा नहीं था कि मैं उस बगीची तक पहुंच कर भीतर जाने को उतावला नहीं था। मेरे भीतर उसे खोज पाने की भी बहुत खुशी थी लेकिन भीतर जाने में बाधा यह थी कि मैं समय से स्कूल पहुंचने के प्रति भी जागरूक था। मेरी इस खोज ने मुझे आह्लाद से भर दिया था लेकिन मैं रुका नहीं और तेजी से स्कूल की तरफ बढ़ता रहा और बार बार घड़ी देखता रहा। मेरे पास अभी भी समय था जो मैं फुर्ती से बढ़कर समय से स्कूल पहुंच सकता था, और मैं इसी कोशिश में लगा था। आखिर, पसीने से लथपथ मैं ठीक समय पर स्कूल पहुंच गया। ओह..'

उसने कुछ सोचते हुए मेरी तरफ देखा।

'उस दिन मैं बगीची की तरफ नहीं गया। अगले दिन स्कूल केवल आधे दिन का था। बगीची का ख्याल मेरे दिमाग पर लदा हुआ था फिर भी पता नहीं क्यों, शायद इस विचार से कि आधा दिन वहां जाने के लिए कम है, मैं उधर नहीं निकला.. लेकिन वह बगीची मेरे दिमाग पर इतना हावी रही कि मैं उसे खुद तक सीमित नहीं रख सका..

मैंने उससे यह प्रसंग साझा किया... वो क्या नाम था उसका...जिसे हम सब घामड़ कहकर चिढ़ाते थे..?'

'यंग हॉपकिंस..' मैंने याद दिलाया।

'हां हॉपकिंस..मुझे खुद उसे यह सब बताना ठीक नहीं लगा, लेकिन मैं खुद को रोक नहीं सका। मेरे घर की ओर जाने के लिए उसका रास्ता भी काफी दूर तक एक ही था। तुम तो जानते ही हो, वह एक बातूनी लड़का था। हम साथ साथ जा रहे थे। अगर मैं चुप रहता तो वह ही कुछ कुछ बोलता चलता। ऐसे मैं मुझे ही खुद पर काबू नहीं रहा और मेरे पास उस बगीची के अलावा और कुछ कहने बोलने के लिए था ही नहीं। बस, इस तरह मैं फट पड़ा।'

'... और उस लड़के ने मेरे उस भेद को सबसे कह दिया। अगले दिन, खेल की छुट्टी के समय मैंने खुद को करीब आधा दर्जन बड़े लड़कों के घिरा पाया। वह सब मुझसे, थोड़ा चिढ़ाने के मूड में और थोड़ा उत्सुकता से भरकर उस बगीची के बारे में सवाल करने लगे। एक वो था लंबू, फौसेट, और कर्नाबी, और वो मोरले रेनौल्ड... सब के सब मेरे पीछे पड़ गए। तब तुम नहीं थे शायद... नहीं.. अगर तुम होते तो मुझे जरूर याद होता।

मैं एक अजीब से ख्यालों वाला लड़का बना उनके बीच खड़ा था। उस समय मेरे भीतर इस भेद के खुल जाने की थोड़ी लज्जा थी, लेकिन साथ ही इस बात का मान भी कि मैं इतने लोगों की रुचि का विषय बनकर वहां घिरा हुआ हूँ। मुझे अच्छी तरह से याद है कि जब क्रशाव ने मेरी तारीफ की थी तो मैं गर्व से फूल उठा था, अरे वही क्रशाव मेजर, मशहूर गीतकार का बेटा.. उसने कहा था कि यह उसका अब तक का सुना हुआ सबसे खूबसूरत झूठ है। लेकिन उसके साथ ही उस समय बहुत से तकलीफ भरे अनुभव भी मुझे हुए थे, जिनका कारण मेरे उस मनभावन प्रसंग पर किए गए बेहूदा फिकरे थे। उस कमीने फौसेट ने बगीची में मुझे मिली उस लड़की के बारे में गंदा मजाक किया था...'

कहते-कहते वालेस का गला रुंध आया। वह उस शर्मनाक स्थिति को याद करके सिहर उठा था। मैंने उसकी इस मनःस्थिति को अनदेखा करने की कोशिश की। उसने आगे बताया, 'कर्नाबी ने मुझे जमाने भर का झूठा करार दे दिया। जब मैंने कहा कि यह सब सच है तो वह मुझसे झगड़ पड़ा। मैंने कहा कि मुझे पता है कि वह बगीची कहां है और मैं सब को वहां दस मिनट में ले जा

सकता हूँ, तो कर्नाबी उत्तेजित हो गया। बोला कि या तो मैं अपनी बात साबित करूँ या भुगतने को तैयार रहूँ। क्या तुम्हें याद है कि कर्नाबी कैसे किसी की बांह मरोड़ कर उसे सताता है..? अगर याद होगा तभी तुम समझ पाओगे कि मुझे पर क्या बीती थी। मैंने कसम खाई कि मैं सच कह रहा हूँ। स्कूल में उस समय और कोई नहीं था जो मुझे कर्नाबी से बचा सकता, हालांकि क्रशाव ने थोड़ी कोशिश जरूर की। कर्नाबी को तो अपना मौका मिल गया था। उत्तेजना में मेरे कान लाल हो गए थे और मैं थोड़ा घबराया हुआ भी था। अब यह हाल था कि अपनी उस मनभावन बगीची की ओर अकेले जाने के बजाय, मैं छः शैतान, उदंड और मुझे धमकाते लड़कों के साथ बढ़ रहा था। मेरे गाल आंसुओं से भीगे थे, कान लाल हो रहे थे, मन में गहरी शर्मिंदगी भरी टीस थी.. और नतीजा क्या निकला...?

हम वह सफेद दीवार और हरा दरवाजा नहीं खोज पाए।

‘क्या...?’ मैं भौचक रह गया।

‘हां, मुझे वह जगह नहीं मिली। उसके बाद मैं वहां अकेला भी गया और वह जगह मुझे नहीं मिली। मैं वह जगह कभी नहीं ढूँढ पाया। अपने समूचे स्कूली दिनों में मैं वह जगह तलाशता रहा, लेकिन कभी कामयाब नहीं हुआ... कभी नहीं।’

‘तब तो उन लोगों ने उत्पात मचा दिया होगा...?’ मैंने हैरान होकर पूछा।

‘उपफ, क्या बताऊं.. उस जालिम कर्नाबी ने मेरे इस सफेद झूठ पर एक मोर्चा खड़ा कर दिया। मैं भूला नहीं हूँ कि मैं कैसे लंगड़ाता हुआ और अपने बदन की सूजन छिपाता हुआ घर पहुंचा। उसके बाद मैं अकेले में रोया लेकिन मेरे उस रोने की वजह कर्नाबी की करतूत नहीं थी बल्कि उस बगीची की याद थी.. वह मनभावन दोपहर, वह खूबसूरत लड़की और मेरे वह साथी, जिनका मैं नाम नहीं याद कर पा रहा हूँ..’

मैं बार-बार यह सोचता रहा कि मुझे यह प्रसंग किसी से साझा नहीं करना चाहिए था। मेरी वह रात रोते हुए बीती। स्कूल में लगातार दो परीक्षाओं में पिछड़ता गया और मेरे नंबर खराब आए। तुम्हें जरूर याद होगा, जब तुमने मुझे गणित में पछाड़ दिया था और तभी मेरी चेतना जागी थी।

फिर कुछ देर मेरा दोस्त वैलेस अपने दिल में सुलगती आग की तपिश चुपचाप झेलता रहा। उसके बाद उसने आगे कहना शुरू किया।

‘उसके बाद मैंने वह जगह केवल तभी देखी जब मैं सत्रह साल का हो चुका था। मैं कार से ऑक्सफोर्ड की स्कॉलरशिप के लिए पैडिंगटन की ओर बढ़ रहा था। उस समय मैंने उसकी बस एक झलक देखी। मैं उस समय आराम से सिगरेट पी रहा था और समझ रहा था कि इस समय मुझे जैसा बादशाह और कोई नहीं होगा... अचानक तभी मुझे वह सफेद दीवार और उसमें लगा हरा दरवाजा नजर आया। और मेरे भीतर वह जब्बा जाग गया जो कभी न भुलाए जाने वाला था और मैं उसे हासिल भी कर सकता था। हैरत और भावुकता की स्थिति में मैंने कार के ड्राइवर को रुकने का संकेत दिया और उसके रुकते-रुकते कार काफी आगे बढ़ चुकी थी। इस बीच मेरे भीतर दुविधा आकर बात गयी। मैं रुकने या न रुकने के असमंजस में पड़ गया, और जब ड्राइवर ने मुझसे पूछा, तो मेरा जवाब था, ‘... कुछ नहीं। चलो, मेरे पास समय कम है।’ और मैं वह अवसर छोड़कर आगे बढ़ गया।

मुझे स्कॉलरशिप की स्वीकृति दे दी गई। उसके अगले दिन मुझे जब इस की सूचना मिली, मैं अपने पिता के घर, अपने कमरे में बैठा था। वह बहुत बिरला ही मौका था जो उन्होंने मेरी तारीफ

जी भरकर की थी और मुझे बहुत सी हिदायतें भी दी थीं। उनके कहे हुए शब्द मेरे कानों में गूँज रहे थे। मैं अपना मनपसंद पाईप पी रहा था और इसके अलावा मेरे मन में अपनी बीती हुई किशोरावस्था के कठिन पल भी दस्तक दे रहे थे, जिनमें उस सफेद दीवार और हरे दरवाजे के पीछे की बगीची की भी गहरी स्मृति थी। लेकिन इस सब के साथ मेरी तर्क शक्ति भी अपना काम कर रही थी। अगर मैं उस बगीची के लिए रुक जाता तो मैं स्कॉलरशिप से चूक जाता, ऑक्सफोर्ड मेरे हाथ से निकल जाता, और मैं इतने बढ़िया भविष्य से हाथ धो बैठता। आखिर मैंने खुद को यह कहकर समझा लिया कि अपने सुंदर भविष्य के लिए यह त्याग करना ही ठीक रहा।

मेरे मन में बगीची के उन दोस्तों का, और वहां के खुशनुमा माहौल का माधुर्य निरंतर बना रहा लेकिन उसके बीच मेरे आगे की दुनिया आकर बैठ गई। मुझे एक और दरवाजा अपने आकर्षण से बांधने लगा, वह था मेरी तरक्की भरी जीविका का दरवाजा।

कहते-कहते वैलेस ने एक बार फिर ठहरकर कहीं दूर देखा। उसके चेहरे पर एक अपनी बात से एक गहरी चमक आई और फिर बुझ गई। वह कुछ देर चुप रहा और उसने आगे बोलना शुरू किया।

‘ठीक है, मैंने अपनी जीविका में सफलता हासिल की। मैंने बहुत काम किया और काम के जरिए नाम कमाया... लेकिन, मैं उस बगीची से जुड़े अद्भुत आनंद के सपने को हजारों बार अपने मन में जीता रहा। उस दिन बगीची से बाहर आने के बाद मैंने उसके हरे दरवाजे को चार बार देखा हां, चार बार। थोड़े समय के लिए मुझे अपने कामकाज की दुनिया इतनी लुभावनी और चकाचौंध भरी लगी कि मैं यादों में बसी होने के बावजूद उस बगीची के एहसास से दूर हो गया। यह दुनिया, जहां खूबसूरत औरतों और महत्वपूर्ण लोगों के साथ मिलना-जुलना खाना-पीना हो, वहां तेंदुओं के साथ खेल का क्या मजा रह जाता है। मैं ऑक्सफोर्ड से लंदन आ गया और मेरी शख्सियत बुलंदी पर चढ़ गयी, फिर भी मुझे अपने भीतर गहरे खालीपन का एहसास बराबर होता रहा....

मैं दो बार प्रेम की गिरफ्त में आया... खैर, मैं उसका जिक्र नहीं करूंगा, लेकिन एक बार मैं किसी ऐसे के पास जा रहा था जिसने कभी सोचा भी नहीं होगा कि मैं उस तक पहुंचने की हिम्मत कर सकता हूं। यह मेरा तरक्की के रास्ते पर आगे बढ़ने का एक शॉर्टकट तरीका था। वहां पहुंचने के लिए मुझे अनजान रास्ते पर जाना पड़ा, जो एर्लस कोर्ट के पास है। वहीं मुझे वह जानी पहचानी सफेद दीवार और हरा दरवाजा नजर आया। मैं चौंका, वह जगह तो कैंपडेन हिल के पास है.. यहां वह जगह हो ही नहीं सकती.. जरूर यह मेरा वहम है, और मैं अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता चला गया। उस समय मेरे मन में कोई दुविधा नहीं हुई।

... नहीं, एक लहर तो आई थी कि बस कुछ ही कदम बढ़ाकर मैं उस बगीची में झांक लूं। उन तेंदुओं को हाथ हिला कर ‘हेलो’ कह दूं, लेकिन नहीं, मेरे सामने मेरा लक्ष्य हावी हो गया, जिससे मेरा गौरव जुड़ा हुआ था, हालांकि बाद में मैं अपनी समय की पाबंदी की सनक पर पछताया और मेरा मन गहरे पश्चाताप से भर गया... लेकिन लक्ष्य तो सामने था ही।

इस तरह बरसों बरस कड़ी मेहनत का दौर चलता रहा। मुझे तरक्की हासिल होती रही और मुझे कभी वह दरवाजा नजर नहीं आया। पर उसकी तमन्ना मेरे भीतर कहीं जिंदा ही थी शायद, और बस अभी कुछ ही दिन पहले उस बगीची की ख्वाहिश मेरे अंदर फिर जाग गई। मुझे यह बात कहीं दर्द की तरह सताने लगी कि अब मैं वह दरवाजा कभी नहीं देख पाऊंगा। इसके साथ ही मुझे अपने

काम की दुनिया, उसकी चमक-धमक फीकी लगने लगी... शायद मैं अपने काम के बोझ से टूटने लगा था... शायद यह मेरी उम्र का चालीस पर होने का असर था। यह क्या था मुझे पता नहीं, लेकिन जो उत्साह मुझे काम की चुनौती की ओर खींचता था, वह बुझने लगा। मेरे काम के दायरे में बहुत से ऐसे बदलाव हो रहे थे जिनमें मुझे अपना हुनर और क्षमता दिखाने का बड़ा मौका था, लेकिन मुझे यह सब बहुत बेकार लगने लगा था, जैसे वह सब उपलब्धियां बहुत बेमोल हों... और ऐसे में मेरे भीतर इस तड़प ने सिर उठाया था कि मैं उस बगीची में पहुंच जाऊं और बिल्कुल इसी दौर में मैंने उसे तीन बार देखा।

‘क्या... वह बगीची..?’ मैं इस बात पर चौंक गया था।

‘नहीं- वह दरवाजा..! लेकिन मैं उसमें गया नहीं।’

वैलेस मेज पर मेरे बहुत पास झुक आया। उसके चेहरे पर दर्द की गहरी रेखाएं थीं और बहुत दुःख भरी आवाज में उसने आगे कहना शुरू किया,

‘फिर तीन बार मुझे मौका मिला... तीन बार। अब अगर यह दरवाजा मुझे एक मौका और दे तो कसम से, मैं जरूर अंदर चला जाऊंगा। चाहे कितनी भी गर्मी हो, धूल, आंधी, बरसात हो, कितनी भी मुश्किलें हों, मैं जरूर चला जाऊंगा...और फिर कभी नहीं लौटूंगा। इसके बावजूद, जब मुझे मौका मिला, मैं नहीं गया।’

पहली बार ऐसा तब हुआ जब ‘किराएदारों की ऋणमुक्ति प्रस्ताव’ पर सरकार केवल तीन मतों के सहारे गिरने से बच पाई। याद है तुम्हें..? न तो हमारी तरफ से और न ही विपक्ष को उम्मीद थी कि सरकार बच पाएगी। सारी बहस नाकाम हो गई थी। मैं और हौचिस ब्रेंटफोर्ड में उसके चचेरे भाई के घर खाना खा रहे थे और हम दोनों अकेले ही थे तभी हमें टेलीफोन से तुरंत पहुंचने का आदेश मिला और हम उसके चचेरे भाई की कार से रवाना हो गए। बहुत मुश्किल से हम एकदम ऐन मौके पर पहुंचे, और इसी दौरान हमारी कार उस सफेद दीवार और हरे दरवाजे के सामने से गुजरी... बिल्कुल, बिना कोई संदेह, ठीक उसी जगह के सामने से। ‘ओह माई गौड’ मेरे मुंह से निकला। ‘क्या हुआ..?’ हौचिस ने पूछा। ‘कुछ नहीं, जल्दी चलो।’ मैंने बस इतना जवाब दिया। पहुंचकर कार से उतरते ही मैंने कहा कि मैंने फिर एक बड़ी कुर्बानी दी है।

‘कुर्बानी तो सबने दी है दोस्त,’ हौचिस का जवाब आया और हम तेजी से भीतर चले गए।

यह मेरी समझ से बिल्कुल बाहर है कि मैं और कर ही क्या सकता था। दूसरी बार, मैं अपने जिद्दी बूढ़े पिता के अंतिम दर्शन पाने के लिए भगा जा रहा था, जब मैं उस हरे रंग के दरवाजे के सामने से गुजरा। उस समय भी मेरे सामने जिंदगी और मौत का सवाल था। तीसरी बार जो हुआ वह बहुत फर्क तरह का प्रपंच है। मैं उसे सोच-सोच के गहरे पश्चाताप से घिर जाता हूँ। अभी हफ्ता भर पहले की बात है। मैं गुरकर और रॉल्फ के साथ था। अब तो खैर यह कोई गुप्त प्रसंग नहीं रहा, और मैं तुमसे साझा कर सकता हूँ। मेरी गुरकर से बात हुई थी। हम बढ़िया होटल फ़ोर्बिशर्स में खाना खा रहे थे और हमारे बीच बहुत अंतरंग संवाद चल रहा था। मंत्रिमंडल में मेरी जगह का सवाल हमेशा चर्चा से बाहर रह जाता था। उस बार गुरकर ने खुलकर कहा था, ‘अरे यार, वह एकदम तय हो चुका है, इसलिए उसकी तो बात ही मत करो। अब तो यह तुमसे भी छिपाने का निर्णय नहीं रह गया है।’ मैंने उसे बार-बार धन्यवाद कहा था, लेकिन तुमसे मेरी असली बात तो कुछ और है, और मैं वह तुम्हें जरूर सुनाऊंगा।

उस समय, जब मैं गुरकर और रॉल्फ के साथ चल रहा था, तब मैं बहुत असमंजस में था। मंत्रालय में मेरी जगह का सवाल बहुत नाजुक मोड़ पर था और मैं इस बारे में गुरकर से कुछ साफ साफ सुन लेना चाहता था, लेकिन बाधा यह थी कि मैं यह बात रॉल्फ के सामने नहीं कर सकता था। मैं बहुत चतुराई से दूसरी सारी बातें करता चल रहा था और सतर्क था कि बात कहीं से भी घूमकर इस मुद्दे पर न आ पाए। मुझे मालूम था कि रॉल्फ केनसिंग्टन हाई स्ट्रीट पर हमसे अलग हो जाएगा और मैं गुरकर से एकदम बिंदास होकर अपनी बात कह सुन सकूंगा। कभी-कभी इनसान को ऐसी चालाकी बरतनी ही पड़ती है। मैं इसी मंसूबे के साथ आगे बढ़ रहा था कि फिर मुझे वह सफेद दीवार और उस बगीची का हरा दरवाजा नजर आया।

बातें करते-करते हम आगे बढ़ गए। मैंने उस दरवाजे को पीछे छोड़ दिया। मेरी नजर उस दीवार पर ही टिकी थी और मैं उस पर गुरकर की परछाई देख रहा था। आगे को झुका हुआ उसका खास हैट, उसकी तीखी नुकीली नाक और गर्दन पर लदी हुई चर्बी की कई पर्तें... उस पर रॉल्फ की परछाई भी थी, जो हमसे अलग निकलकर जा रहा था।

मैं उस दरवाजे से बस हाथ भर की दूरी पर था, और मेरे मन में खुद से संवाद चल रहा था, 'अगर मैं उनसे अलविदा कहते हुए भीतर चला जाऊं तो... क्या होगा...?' इसके साथ ही मेरी बातचीत गुरकर से भी जारी थी। मैं अपने भीतर उठे सवाल का जवाब नहीं दे पाया.. मैंने खुद को समझाया, वह मुझे पागल समझेंगे... 'और अगर मैं गायब हो जाऊं तो?' फिर तो गजब हो जाएगा। किसी महत्वपूर्ण राजनायक का गायब हो जाना क्या तहलका नहीं खड़ा करेगा.. हजार सवाल उठ खड़े होंगे।'

इतना बोल कर वैलेस ने मेरी ओर देखा। उसका चेहरा किसी विषाद से सराबोर था लेकिन वह मुस्कुरा भी रहा था, '... तो इस तरह मैं अब तुम्हारे सामने हूं.' उसने कहा।

थोड़ा चुप रहकर उसने ठंडी सांस भरते हुए कहा, '... इस तरह एक और मौका मेरे हाथ से गया... एक ही साल में तीन बार उस दरवाजे ने मुझे पुकारकर मौका दिया। वह दरवाजा जिसके भीतर अपार शांति है, आनंद है, वह खूबसूरती है जो सपनों से भी परे है, इतनी मानवता और दरिद्रता है जो इस धरती पर कोई सोच भी नहीं सकता... उसे मैंने ठुकरा दिया रेमंड, और वह मुझसे छूट गया।

'यह तुम कैसे कह सकते हो..?' मैंने वैलेस को कुछ दिलासा देने के लिए कहा।

'मैं जानता हूं, मुझे पता है। अब मेरे हाथ कुछ नहीं बचा है, सिवाय काम के जिसने मुझे हर उस मौके पर थाम लिया जब वह जिंदगी के विलक्षण सुख का पल मेरे सामने आया। तुम कहते हो मैं एक कामयाब इनसान हूं?, यह कष्टकर, बेढंगी और ईर्ष्या-द्वेष से भरी जिंदगी.. यही मेरा सच है।'

वैलेस ने सामने से एक अखरोट उठाया और उसे हाथ में लेकर तोड़ दिया.. 'मेरी कामयाबी बस इतने भर ही है दोस्त...'

'मैं तुमसे सच कह रहा हूं रेमंड... यह नुकसान मुझे पिछले दस महीने से छलनी किए हुए है। इस बीच मैंने किसी बहुत जरूरी काम के अलावा कुछ भी नहीं किया है। मेरी आत्मा गहरे दुःख से भरी हुई है। एकांत अकेली रात में मैं बाहर निकल जाता हूं और भटकता रहता हूं... सचमुच। पता नहीं, जब उन्हें पता चलेगा तो लोग क्या सोचेंगे... एक कैबिनेट स्तर का मंत्री, कितने ही महत्वपूर्ण विभागों का अध्यक्ष, अकेले बिलखता हुआ भटक रहा है, और जोर से रो रहा है, वह भी बस एक दरवाजे और एक बगीची के लिए..'

मेरे दोस्त लोनिअल वैलेस का बदरंग और चेहरा और उसकी जलती हुई धुआंती आंखें अभी भी मेरे सामने हैं। उसका कल का कहा हुआ एक-एक शब्द मेरे कानों में गूँज रहा है। शाम को आया हुआ वेस्टमिनिस्टर गजट मेरे सोफे पर पड़ा है जिसमें उसकी मौत की खबर छपी है। आज दोपहर क्लब में लंच के समय सिर्फ उसकी मौत का प्रसंग छाया हुआ था किसी के पास और कोई बात थी ही नहीं जैसे...

कल सुबह, ईस्ट केंसिंग्टन स्टेशन के पास एक गहरे गड्ढे में पड़ा उसका मृत शरीर पाया गया था। उत्तर की दिशा में रेलवे की विस्तारीकरण की योजना के तहत वह खुदाई हो रही थी। बाहर से किसी अनजान राहगीर के बचाव के लिए वह रास्ता टीन की चादरों से बंद किया हुआ था। उसी चादर में एक जगह काटकर छोटा दरवाजा उन कामगारों के आने-जाने के लिए लगाया गया था जो भीतर उसी तरफ रहते थे। इत्तेफाक से पिछली रात वह दरवाजा कामगारों की लापरवाही से खुला रह गया और मेरा दोस्त वैलेस उसी दरवाजे के रास्ते भीतर चला गया, और....

मेरा दिमाग बहुत सारी पहेलियों और सवालों से भर गया है।

ऐसा लगता है कि वह रात को अपने घर से निकल पड़ा होगा, जैसा कि वह पिछले काफी समय से करता आया है। रात का अँधेरा और खाली पड़ी सड़क... टीन की चादर पर स्टेशन की पीली पड़ती रौशनी ने उस चादर के सफेद होने का भ्रम रचा होगा। क्या दुर्भाग्य से उस खुले रह गए दरवाजे ने वैलेस की स्मृतियों में हलचल मचा दी होगी...?

क्या सचमुच कहीं कोई सफेद दीवार और हरा दरवाजा रहा भी होगा...?

पता नहीं। मैंने तो यह कहानी जैसी उसने सुनाई, वैसी ज्यों कि त्यों आपको सुना दी। मेरा मानना है कि वैलेस एक इत्तेफकिया गलती, भ्रम और अपनी लापरवाही का शिकार हो गया, लेकिन मैं समझता हूँ कि यह पूरा सच नहीं है। कोई चाहे तो मुझे बेवकूफ या अंधविश्वासी आदमी मान सकता है लेकिन मेरा मन यह कहता है कि वैलेस को एक असाधारण और अनोखी दृष्टि प्राप्त थी जिसके जरिए वह सफेद दीवार और हरा दरवाजा देख पाता था और उसे पार करके वह एक अनोखे, अद्भुत, सौंदर्यपूर्ण संसार में पहुंच जाता था, वहां उसे अलौकिक आनंद मिलता था और मानवीयता से ओत-प्रोत परिवेश... जो हमारे संसार में नहीं है। आप यह कह सकते हैं कि इसी शेखचिल्लीपन ने उसे धोखा दिया.. पर क्या उसने सचमुच धोखा खाया..? जरा ऐसे स्वप्नजीवियों के रहस्यमयी कल्पना संसार में उतरकर देखो...क्या वैभव है वहां! हम अपने सहज सामान्य संसार में सभी सावधानियां और सुरक्षा देखते हैं, और वह वैलेस, सुरक्षा, और उजाले के भ्रम को पार करके, आनंद के रास्ते मौत तक पहुंच गया...

यह मेरा सोचना है, लेकिन क्या उसने भी इसी तरह सोचा होगा...?

अनुवाद : अशोक गुप्ता



कविताएं

- श्याम कश्यप
 - शलभ श्रीराम सिंह
 - पवन करण
 - शैलेय
 - रमेश प्रजापति
-

सागर में त्रिलोचन : 'डायरी' से कुछ कविताएं

श्याम कश्यप

हमने त्रिलोचन को देखा है! त्रिलोचन शास्त्री को देखा न था। उनका बड़ा नाम सुना था। सबसे ज्यादा कवि मित्र विजेंद्र से। गाहे-बगाहे नामवरजी, केदारनाथ सिंह और विष्णुचंद्र शर्मा से भी। बाद में, दिल्ली आ जाने पर विजय मोहनजी से उनकी सभिनय 'पैरोडी' भी! उनके 'किस्से' तो रामविलासजी और परसाई जी भी सुनाते थे।

त्रिलोचन की छिट-पुट कविताएं भी पढ़ी थीं लेकिन मुझे बिल्कुल पसंद नहीं आई थीं। त्रिलोचन के भोपाल आ जाने पर पुनर्प्रकाशित 'धरती' भी पर मैं उन्हें भी पसंद नहीं कर पाया। शमशेरजी की गद्-गद् प्रशंसा ('तुमने धरती का पद्य पढ़ा है/उसकी सहजता प्राण है') के बाद भी मुझे वे सपाट और साधारण कवि ही लगे! निहायत 'बोर' और प्रभावहीन कविताएं।

त्रिलोचन को पहली बार दिल्ली में देखा। शमशेरजी के घर। नामवरजी के साथ मॉडल टाऊन 'जी' ब्लाक जाकर। शायद '77 आखीर या '78' के शुरुआत की बात होगी। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग की हिंदी-उर्दू द्विभाषिक कोश परियोजना के लिए (शमशेरजी की जगह) शायद साक्षात्कार आदि के लिए आए थे। मई 78 में नियुक्ति के बादर शास्त्रीजी सपरिवार दिल्ली आ गए। 'जी' ब्लाक में। शमशेरजी के बगलगीर। वहीं मेरे एक अन्य मित्र, उर्दू के मशहूर शायर अमीर आरफी भी रहते थे। मैं तब साउथ एवेन्यू छोड़कर दिल्ली यूनिवर्सिटी के एकदम बगल में विजय नगर आ गया था, और शाम को 'जनयुग' से लौटकर देर रात तक मॉडल टाऊन में मित्रों से गप्प-गोष्ठियों में रमा रहता था। वैसे भी हम दोस्त मॉडल टाऊन को मजाक में 'डीयू के टीचर्स का स्लम' कहते थे। कभी-कभार नामवरजी भी पधार जाते, तो विषनाथजी (क्षमायाचना के साथ- पं. विश्वनाथ त्रिपाठी) के यहां 'डिनर' करके ही लौटते। शमशेर प्रायः डीयू से मेरे यहां आते, फिर चाय-वाय के बाद हम पैदल ही गप्पे मारते विजय नगर से मॉडल टाऊन जाते। अब शमशेरजी की तरह त्रिलोचन के साथ।

सच पूछिए तो मैं इन पहली मुलाकातों में त्रिलोचन से जरा भी 'इंप्रेस' नहीं हुआ था। मुक्तिबोध और शमशेर की कविताओं के बारे में उनकी 'राय' और उनके 'विवेचन' से असहमत होकर, जबर्दस्त बहसों में भी प्रायः उलझता रहता। मेरे सिर पर मुक्तिबोध-शमशेर का जादू चढ़ा था (अब भी चढ़ा है) और इन दोनों के बारे में केदारजी (केदारनाथ अग्रवाल- जो मॉडल टाऊन अपनी बेटी के यहां आते थे) और त्रिलोचन से कई बार झगड़ चुका था कि आप दोनों से तो अज्ञेय भी श्रेष्ठ कवि हैं; मुक्तिबोध और शमशेर की तो बात ही अलग है! दोनों बुजुर्गवार बेचारे टुकुर-टुकुर ताकते रह जाते और चुप्पी मार जाते। शास्त्रीजी मंद-मंद मुस्कारते रहते और प्रसंग बदल देते। वह दौर ही ऐसा था

कि मैं सदा हवा के घोड़े पर सवार रहता था! शालीनता के कोसों दूर!

एक बार तो त्रिलोचन से ऐसा उलझा कि एकदम हथ्थे से ही उखड़ गया। किस्सा-कोताह यों कि त्रिलोचन यह संस्मरण कई बार सुना चुके थे और अक्सरहां दोहराते रहते थे कि बनारस में मुक्तिबोध और मैं 'हंस' में साथ थे। मैं 'हंस' के संपादकीय विभाग में था, मुक्तिबोध 'डिस्पैचर' थे! मेरा पारा बराबर चढ़ता जा रहा था। एक बार त्रिलोचन ने सहज भाव से फिर वही प्रसंग दोहराया, बिना मेरी मुख-मुद्रा भापे। विस्फोट तो होना ही था : 'होंगे मुक्तिबोध तब डिस्पैचर, पर आपकी निरी सपाट कविताओं से तब भी वे बड़ी श्रेष्ठ कविताएं लिख रहे थे! निराला के बाद आज हिंदी के श्रेष्ठतम कवि मुक्तिबोध और शमशेर ही हैं। वैचारिक मतभेद और आइडियोलॉजी एक तरफ धर दें तो संपूर्ण भारतीय काव्य में निराला और रवि ठाकुर के बाद यही तीनों (अज्ञेय) श्रेष्ठ कवि हैं। विश्व-स्तर के। आप और केदारजी मुक्तिबोध की महानता और अपार लोकप्रियता से ईर्ष्या करते हैं।' त्रिलोचन सन्न! चेहरा फक्क! शमशेर उठकर भीतर भागे, चाय बनाने। रोज की तरह शमशेरजी के यहां चाय पीते हुए भी शास्त्रीजी चुप्प : शमशेर की बातों पर बस हूं-हां! मैं बेहद उखड़े मूड में। पर भूचाल तो आ चुका था। गप्प-गोष्ठी जमी नहीं और शमशेरजी के रोकते-रोकते भी बहाना बनाकर शास्त्रीजी फूले हुए मुंह के साथ उठकर घर चले गए। उनके जाते ही शमशेर मुझे गुस्से से डांटने लगे और फिर लगे समझाने। पर जो अपनी अड़ी से हट जाए और समझाने से समझ जाए, वह भला तब का 'श्याम कश्यप' कहां! अब की मैं नहीं जानता। मैं उल्टा शमशेरजी से उलझने लगा : जाने दीजिए, आप तो खामोखाह ठकुरसुहाती करने लगते हैं। शास्त्रीजी को कविता की कोई समझ नहीं। खुद भी मैथिलीशरण से कुछ ही आगे की एकदम सपाट और इतिवृत्तात्मक कविताएं लिखते हैं। जब शमशेर बेहद आहत दिखे और दुःखी भी तौ मैंने कहा, अच्छा ठीक है, मैं अपनी अशिष्टता की माफी मांग लूंगा। कहें तो अभी जाकर मांग लेता हूं। शमशेरजी ने मना कर दिया। कहा, यह उनका दोबारा अपमान होगा। त्रिलोचन बड़े सरल और उदार हैं। जल्दी ही भूल जाएंगे। यह शमशेर कह रहे थे, जो खुद भी निहायत उदार, कोमल और मृदुभाषी होते हुए भी कभी 'भूलते' नहीं थे और मन में गांठ बांध लेते थे।

शमशेर को गुस्से में दो ही बार देखा : आज (यानी इसी दिन- उपर्युक्त प्रसंग में) मेरे ऊपर और बाद में त्रिलोचन के ऊपर। किस्सा यों कि नरेंद्र वशिष्ठ शमशेर पर अपनी पुस्तक लेकर आए और मुझे, शास्त्रीजी को और शमशेर को एक-एक प्रति भेंट कर 'जनयुग' में लिखने को भी कहा। पुस्तक मैं उलट-पुलट गया। मैंने तारीफ की, खासकर कुछ कविताओं के पाठ-विश्लेषण की तो शास्त्रीजी ने अपनी चिरपरिचित शरारतपूर्ण मुस्कराहट के साथ कहा : तारीफ करनी ही है तो शमशेर की करें, वशिष्ठ की नहीं। पुस्तक तो बोल-बोलकर इन्होंने ही लिखवाई है। शमशेर पहले तो एकदम सन्न रह गए, फिर बड़ी तीखी आवाज में बोले : और तथ्य सारे गलत और मनगढ़ंत, त्रिलोचन तुमने बताए हैं। मेरी शादी की और पत्नी की मृत्यु की भी गलत तारीखें! अब तारीखों पर दोनों बुजुर्गों में बहस होने लगी। अचानक शमशेर गुस्से से कांपते हुए फट पड़े : शादी मेरी हुई थी या तुम्हारी! पता कुछ रहता नहीं, अपनी हांकते रहते हो, दूसरे की सुनना नहीं और अपनी गलत बात पर अड़े रहना! और भी जाने क्या-क्या! अपनी पत्नी के संदर्भ में शमशेर हर बात में बहुत 'टची' थे। लंबी और भारी चुप्पी के बाद मैं और त्रिलोचन अपने-अपने रास्ते। इस प्रसंग के बाद महीनों दोनों में

मिलना-जुलना और बोलचाल बंद रहीं। सहज हुए भी तो शमशेर की पहल और केदारजी के दोनों बच्चों की तरह कहने' पर कसकर डांटने से, जिन्हें हमने अपने मेल-मिलाप-षड्यंत्र में शामिल कर लिया था। त्रिलोचन, शमशेर, भीष्मजी और हम सब- लगभग पूरा स्लीपर डिब्बा महाकौशल एक्सप्रेस में दिल्ली के लेखकों से भरा था जबलपुर तक के रास्ते से दल के दल शामिल होते जा रहे थे। केदारजी बांदा-मंडल के साथ आधी रात को सवार हुए थे। मानिकपुर में शमशेरजी द्वारा त्रिलोचन सहित हम 8-10 षड्यंत्रकारियों को गरम-गरम दूध पिलाने के दंड के बाद सब-कुछ सहज-स्वाभाविक। केदारजी ने दूध नहीं पिया वे रोज रात को दो पैग लगाते थे। पता नहीं इसमें रामविलासजी की सहमति थी या नहीं! बहरहाल!

पुनः पुराना प्रसंग? शमशेरजी द्वारा मेरी डांट-फटकार के बाद : शनिवार-इतवार की छुट्टी के बाद सोमवार को त्रिलोचन हस्बे-मालूम वैसे ही प्रफुल्ल मन हाजिर। जैसे कुछ हुआ ही न हो! सब-कुछ सामान्य। यह त्रिलोचन की सरलता और बड़प्पन से मेरा पहला परिचय था। उन्हीं दिनों 'ताप के लिए हुए दिन' आई और त्रिलोचन ने शमशेरजी को और मुझे भेंट करके पार्टी भी दी : चंद्र चाट पैलेस की मशहूर पापड़ी चाट और अग्रवाल की गर्मागर्म जेलेबियां। हालांकि गला दोनों बुजुर्गों का खराब रहा। अब तक त्रिलोचन की कविताओं के बारे में मेरी राय बड़ी खराब थी (और शास्त्रीजी जानते थे), पर इस संग्रह की कई छोटी-छोटी कविताओं और 'सानेटों' को मैंने खासा पंसद किया। उस पर 'जनयुग' में लिखी मेरी समीक्षा शास्त्रीजी को अच्छी लगी। फिर 'दिंगत' और 'इस जनपद का कवि हूँ' ने तो एक सिरे से मेरी राय ही बदल दी! मेरी धारणाओं और काव्यास्वाद में जबर्दस्त तब्दीली आ गई। निस्संदेह, शास्त्रीजी से लगातार होती रहने वाली लंबी-लंबी बतकही और बहसों की भी बड़ी भूमिका रही होगी। शास्त्रीजी से क्रमशः घनी होती दोस्ती और अंतरंगता भी बढ़ती गई। उनके कवि-रूप का महत्व था।

सच कहूं तो त्रिलोचन शास्त्री से असली दोस्ती सागर-प्रवास में ही हुई। मैं दिल्ली विश्वविद्यालय से 'लियन' पर छुट्टी लेकर करीब-चार साल तक सागर रहा था। विश्वविद्यालय में जनसंचार एवं पत्रकारिता के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के रूप में। शास्त्रीजी तो वहां थे ही। मुक्तिबोध सृजनपीठ के अध्यक्ष। कुलपति तब मेरे छात्र-जीवन के बुजुर्ग दोस्त और ट्रेड यूनियन आंदोलन के पुराने साथी शिवकुमार श्रीवास्तव थे (जो बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के जगत 'भाई साहब' कहाते थे)। कम्युनिस्ट नेता कामरेड महेंद्र फुसकेले तो थे ही। प्रो. कांति कुमार जैन भी विश्वविद्यालय से रिटायर होकर वहीं विद्यापुरम में बस गए थे। ये तीनों बुजुर्ग साहित्यकार आपस में भी अभिन्न मित्र थे। इसी त्रिगुट के चौथे जोड़ीदार 'साथीजी' (साथी प्रकाशन के केदारनाथ दुबे) थे ये चारों दोस्त मुक्तिबोध और परसाईजी के भी अंतरंग थे। इस नाते मैं भी चारों दोस्तों का स्नेहपात्र था। इन चारों की प्रेरणा, प्रयासों और अशोक वाजपेयी के निर्णायक कदमों से ही शास्त्रीजी सागर आए और लंबे- बहुत लंबे समय तक वहां रहे। मेरे सागर आने में भी इसी चौगुटे (भाई साहब, कामरेड फुसकेले, साथीजी और जैन साहब) तथा पांचवें महारथी शास्त्रीजी की बड़ी भूमिका थी। प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी तो मेरे 'बैचमेट' ही रहे थे। पर इसमें शास्त्रीजी का 'प्रेशर' निर्णायक रहा था।

सागर विश्वविद्यालय (अशोक वाजपेयी की तरह) मेरा भी मातृपीठ है। इसी नाते अनेक वैचारिक और साहित्यिक मतभेदों के बाद भी अशोकजी मेरे 'सीनियर' और अत्यंत सम्मानीय 'बड़े भाई साहब'

हैं। यह सारे मातृपीठ की परंपरा है। एम.ए. करने के बाद, तकरीबन 22 वर्षों के उपरांत मैं सागर आया था। शास्त्रीजी के निमंत्रण पर केदारनाथ सिंह और प्रयाग शुक्ल के साथ (अशोकजी किसी कारणवश तब नहीं आ पाए थे) मुक्तिबोध सृजनपीठ के एक कार्यक्रम में काव्यपाठ करने। शायद 1995 में। केदारजी और प्रयागजी को दिल्ली विदा करके भाई साहब (जो तभी कुलपति बने थे) शास्त्रीजी के संकेत पर मैं टिकट वापस कर रुक गया था। पुराने बुजुर्ग दोस्तों और शास्त्रीजी के स्नेहपूर्ण दबाव से ही मैं सपरिवार सागर आ गया था। डीयू के वीसी प्रो. मेहता के समझाने पर इस्तीफा वापस लेकर 'लियन' पर। फिर तो लगभग चार साल तक 24 घंटों में से विभाग की नौकरी और सोने-उठकर तैयार होने का समय छोड़कर तकरीबन सारा वक्त शास्त्रीजी के साथ ही बीतता था। कभी मेरे घर, कभी शास्त्रीजी के (जिसे मैं 'आश्रम' कहता था) तो कभी भाई साहब के कुलपति-निवास (गौर भवन) या फिर कटरा में का. फुसकेले के आवास-सह-ऑफिस में, जहां साथीजी भी आ जुटते थे। पहाड़ियों और जंगलों की रोज शाम की 8-10 कि.मी. की लंबी घुमक्कड़ी में गप्पे मारते (पता नहीं ऐसी जीवंत चीज को 'मारना' क्यों कहते हैं!), बहसें करते और कभी-कभार बह-मुबाहिसों में जमकर झगड़ते हुए भी! मगर प्यार से!

इस लंबी घुमक्कड़ी में दुनिया-जहान की बातें हुआ करती थीं। साहित्य और राजनीति ही नहीं, घर-परिवार के सुख-दुःख और अपने जीवन के तमाम मजेदार किस्से-कहानियों की बातें भी। कभी-कभी मैं घर आकर 'डायरी' भी लिखता (त्रिलोचन की 'डायरी' जैसी नहीं, जिसके प्रकाशित रूप का मैं कटु आलोचक था 'स्थापना' में, फिर नवलजी द्वारा 'धरातल' में पुनर्प्रकाशित)। कभी-कभार किसी प्रसंग-विशेष में या कभी यों ही त्रिलोचन पर कुछ कवितानुमा भी। दूसरे दिन शाम को घूमते हुए उन्हें वह 'कविता' सुनता (कभी छंदोबद्ध, कभी मात्र तुकबंदी, तो कभी छंद-मुक्त और अतुकांत)। हम दोनों इस-सब का खूब मजा लेते। इन 'कविताओं' में ज्यादातर तो मजाक में छींटा-कशी होती! प्रेमपूर्वक त्रिलोचन की खिल्ली उड़ाने के अंदाज में चिकौटी! कभी उनके व्यक्तित्व पर तो कभी उनकी कविता पर टिप्पणियां भी। कई बार ये 'कविताएं' बड़े नाजुक और एकदम निजी प्रसंगों पर भी होतीं।

मैं दरअसल, इन्हें 'कविताएं' मानता भी नहीं था। मेरी नजर में यह आपसी दोस्ती में बुजुर्गवार से प्यार-भरी छेड़छाड़ ही थी। इस छेड़छाड़ और मजाक पर हम दोनों जी-खोलकर ठहाके लगाते। पर कभी-कभार गमगीन और दुःखी भी होते! इन्हें छपवाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। हां, ये 'छेड़छाड़ वाली 'कविताएं' भाई साहब, फुसकेलेजी और साथीजी या अन्य अंतरंग मित्रों के बीच खूब सुनी-सुनाई जातीं। शास्त्रीजी भी होते तो शरमाकर मंद-मंद मुस्काते रहते!

त्रिलोचन की बीमारी से शाम की घुमक्कड़ी पहले अनियमित, फिर बिल्कुल ही बंद हो गई। बाद में भी, उनके घर या मेरे यहां, लंबी-लंबी गप्प-गोष्ठियों में ऐसी 'काव्यात्मक' छेड़छाड़ जारी रही। पन्ना से गुरुदेव किछारिया (छकौड़ी) और अजयगढ़ से चंदू (चंदभूषण श्रीवास्तव) अकसर मेरे यहां आए रहते, तो वे भी शामिल रहते। मैं इन्हें 'कविता' या कोई गंभीर साहित्यिक कर्म फिर भी नहीं मानता था। हँसी-हँसी में ही प्रलेस की गोष्ठियों में सुनाई, जो साथियों को खासी पसंद भी आई।

नामवरजी ने जब (वर्षों से बंद पड़ी) त्रैमासिक 'आलोचना' सहस्राब्दि अंकों के रूप में पुनर्प्रकाशित करने की योजना बनाई तो शास्त्रीजी ने इनमें से कुछ (शायद 15 या 16) छांटकर, प्रकाशनार्थ भेजने को कहा। मैंने नहीं भेजीं। फिर वह क्रम भी छूट गया और हम शास्त्रीजी को क्रमशः

छीजते देखते, दुःखी होकर बनारस (जय के पास) या कलकत्ता (अमित के पास) जाने को कहते रहे। इन कविताओं के बारे में मैं खुद भी भूल गया। ऑपरेशन के बाद शास्त्रीजी अंतिम रूप से सागर से विदा हो गए। कुछ ही अर्से बाद मैं भी। दिल्ली-वापसी के सामान में ये सारी कविताएं फाइलों और किताबों के बंडलों में कहीं दबकर 'खो' गईं और स्मृति से भी बाहर हो गईं! 'आलोचना' में भेजने के लिए छांटी 15 कविताओं के 'बंच' सहित कई कविताएं विभिन्न विश्वविद्यालयों के मीडिया पाठ्यक्रमों वाली फाइल में दबी रखी, एक दिन किसी खोई निधि की तरह अचानक मिल गई। अप्रत्याशित! अनायास!

त्रिलोचन तब तक अपनी अंतिम बीमारी में अमित के पास गाजियाबाद आ चुके थे। सोचा, सागर-प्रवास की हमारी सुख-दुःख की अनुभूतियों तथा हँसी-ठठ्ठे की इन सांझी स्मृतियों और मेरी छेड़छाड़ को छपी देखकर बुजुर्गवार शायद फिर एक बार मजे में आनंदित होंगे! उन्हीं की छांटी 15 कविताओं के 'बंच' से नितांत निजी और बेहद नाजुक प्रसंगों की पांच कविताएं हटाकर तथा दो अन्य कविताएं (बाद में लिखीं : 'त्रिलोचन की बीमारी' और 'त्रिलोचन की वापसी') शामिल करके नामवरजी को 'आलोचना' में प्रकाशनार्थ दे दीं। ये छप पातीं, इसके पूर्व ही त्रिलोचन सदा के लिए हमसे विदा हो गए!

त्रिलोचन की स्मृति-सभाओं में (दिल्ली विश्वविद्यालय, जेएनयू, दिल्ली-प्रलेस और बाहर भी, कई जगह) ये कविताएं सुनाई, तो मित्रों ने इन्हें बेहद पसंद किया। प्रलेस की शोक सभा के बाद नामवरजी से पूछा, तो उन्होंने आश्चर्य से कहा कि 'मैंने तो तभी अरुण कमल को भिजवा दी थीं। मैं पता करूंगा। आप भी फोन से पूछ लें।' मैंने नहीं पूछा। कई साल बाद पटना जाने पर जिक्र किया और अपने दो संग्रहों (एक 'लहू में फंसे शब्द' इधर राजकमल से प्रकाशित, दूसरा- जिसमें ये अब छपेंगी) की पांडुलिपियों की सम्मिलित फोटोकॉपी उन्हें यह कहकर दे आया कि 'खो गई हों तो इसमें हैं। अब ये त्रिलोचन वाली 15 कविताएं और बाद में अपनी पसंद की अन्य कविताएं भी अपनी सुविधा से 'आलोचना' में छाप लेना।' आज कई साल बाद तक भी कोई कविता 'आलोचना' में नहीं छपी। दोनों पांडुलिपियों की सम्मिलित फोटोकॉपी भी अभी तक कवि-मित्र के पास ही है।

सौचता हूँ बड़ा वक्त गुजर गया। नया संग्रह आने से पहले तो 'सागर में त्रिलोचन' की ये छवियां व्यापक हिंदी-संसार के आगे आ ही जाएं! कम-से-कम इन कविताओं के अलावा, अन्य इसलिए भी (फिलहाल) छपने लायक नहीं हैं कि उनमें सागर के ही नहीं, दिल्ली-भोपाल-बनारस के कई जीवित और दिवंगत व्यक्तियों-मित्रों के भी दिलचस्प 'कैरीकेचर' और 'व्यंग्यचित्र' हैं! साथ ही, कई में नितांत निजी और पारिवारिक प्रसंग भी! एक कारण यह भी लगता है कि अन्य लोग न तो इतने उदार या जिंदादिल होंगे, न ही त्रिलोचन- जैसे आत्म-व्यंग्य और मेरी 'छेड़छाड़' का भरपूर मजा लेने वाले! फिर, अब तो शास्त्रीजी भी नहीं रहे! अस्तु, फिलहाल....।

फिराक गोरखपुरी अपने बारे में कहा करते थे : 'ये दुनिया तुम पर नाज करेगी हमअस्रो, तुमने फिराक को देखा है।' इस उक्ति में संभव है, कुछ हेरफेर हो, एकाध शब्द का, यथा, 'नाज' की जगह 'फख्र' भी हो सकता है, पर भाव यही है। इन कविताओं के लिए मैंने थोड़ा-सा बदलकर, शीर्षक दिया है : 'हमने त्रिलोचन को देखा है'।

इन दिनों त्रिलोचन खुश हैं

बड़े खुश रहते हैं आजकल त्रिलोचन
हँसी-ठिठोली करते और मटकाते लोचन!
बोले : अम्मांजी के बाद तुम्हारी-
बड़ा अकेलापन-सूनापन लगता था भारी!

लेकिन बंधु, अब मिजाज बदला है;
फिर हंगामाखेज हुआ अपना बंगला है!
फिर से शुरू हो गई, भाई खैनी;
छोड़ सलाहें सभी डॉक्टरी-
अब हो गया यहां 'आचमन' भी जारी!

रहने लगे घिरे, फिर से त्रिलोचन;
नहीं दीखता था, यहां कोई संकटमोचन।
सागर को भी भोपाल कर रहे;
दिल्ली-जैसे, जाम भर रहे-
ऐसे 'भक्तों' की घेरे थी मंडली सारी!

मैंने टोका, रोका, फुसकेले की ओर ढकेला।
नथुने फड़का कर तीखा बोले:
रीढ़ तनी और सीना खोले-
भाई, यहां पड़ा हूं अस्सी-पार अकेला;
रहना चाहता था अब मैं परिजनों के साथ।
लेकिन अब शिकवा नहीं किसी से;
शुभाशीष है उसको, मिली चोट किसी से।
जिया करा ऐसे ही, स्वाभिमान से उन्नत माथ!

बहुत भटक लिया जाने तो कहां-कहां?
छोड़ ठिकाने किया बसेरा यहां-वहां!
अब मन लग गया, न उकताएं
छोड़ कर सागर भला कहीं और क्यों जाएं!

जब से, पंडित, तुम कैंपस में आए,
मन में उठे तरंग, मस्ती भी अब तो छाप।
मत उलझा करो तुम छोटी-मोटी बातों में;

मित्रों के संग-साथ में रंग रहेगा, भाई ।
दिक्कतें-अभाव तो हैं कई-
बंगले की छत टपकती, बरसातों में;
भृत्य भी नागा करता कभी दिन-रातों में ।
फिर भी क्यों भला दिल्ली-कलकत्ता जाएं!

यों भी यहां अब मित्रों का कहां है टोटा;
कहीं भी रहें, कष्ट तो रहता छोटा-मोटा ।
राजनीति, साहित्य, समाज का खींचें झोंटा-
सजी रहती है अब तो छेड़छाड़ की महफिल,
संध लगाते शब्दों में, करते हैं बहसें हिलमिल ।

घर-परिवार, सुख-दुःख की बातें,
वह भी, जहां खाते रहे हैं दोनों घातें ।
बज्र-कठोर यह छाती, अभ्यस्त, सह जाती है;
नई-से-नई बात भी, जो प्रहार की आती है!

कोयल का घोंसला

चलो पंडित
तुम्हें कोयल का
घोंसला दिखाएं
कह कर-
चढ़ गए पेड़ पर
लपक कर त्रिलोचन ।
मैंने कहा
शास्त्रीजी
पर कोयल तो कभी
घोंसला बनाती ही नहीं!

ठठा कर हँस पड़े
त्रिलोचन-
बोले : झूठ है;
सागर के कौओं ने ही
फैलाई है यह मिथ्या बात;

सागर में कोयल
बनाता है घोंसला
पहाड़ी के पेड़ों की
फुनगी पर छिप कर!

आम का मौसम

विश्वविद्यालय की
छुट्टी थी दो दिन
और धुआंधार बारिश
लगातार चार दिन-

झापस की
झड़ी रुकी तो
पांचवें दिन मिले
त्रिलोचन-
बोले : भृत्य नहीं आया,

न कुछ पकाने को था
न लाने वाला ही कोई
सिविल लाइंस से घाटी उतर कर!

बहुत पछताए हम
न मैं जा सका था
न आ पाए त्रिलोचन
ऐसी झड़ी लगी-
राधावल्लभ-गोविंद द्विवेदी भी
नहीं ले पाए कोई खोज-खबर!

हँस कर बोले त्रिलोचन
दूरभाष तो लगा नहीं यहां
अभी तक सरकारी-
होता भी तो ठप्प पड़ा होता
सब की तरह इस बारिश में।

फिर पछताया मैं
बेहद शर्मिंदा होकर।

क्यों मुंह लटकाए हो
पंडित-
बोले त्रिलोचन;
एक बार ऐसे ही गूलर खाकर
की थी प्राणों की रक्षा मैंने...

बोले
इस बार भी
पेड़ पर चढ़ कर
खूब आम चूसे जी-भर।

त्रिलोचन की भाषा

शब्द मैंने
नहीं गढ़े,
न ही बनाई
मैंने भाषा-
उसको आदर दिया
उपेक्षित थी जो भाखा!

शब्दों में
देखते जीवन,
शब्दों से ही काम लिया है
वर्ण-गंध और श्रव्य दृश्य का;
बोले शब्दकार त्रिलोचन-
कुछ हास्य और गंभीरता के साथ।

शब्दों के
अर्थ भी
मैंने नहीं खोजे हैं;
मुस्कराकर-
फिर बोले त्रिलोचन:

कैसे लाऊं मैं
शब्दों में उन
अर्थों को-

जो फल बन कर
आमों की झूल रहे हैं
टहनी-टहनी...

पांच

यों ही तो
फैलाई होगी
अफवाह किसी ने;
मुस्काकर बोले
त्रिलोचन-
शासकीय भद्रागंतुक से
एक दिवस।

कहा भला किसने
बोले फिर मुझसे
कहो पंडित-
किया किसने ठंडा भला;
कहीं शरारती हमारे
कल्लू खरगोश* ने तो नहीं,
अपने लंबे-लंबे कान भटकाते!

ठठाकर हँस पड़े
त्रिलोचन-
वे होंगे कोई और
कबि तिरलोचन
मैंने कहाँ सीखी कभी कविताई!

मैंने देखा
सामने की पहाड़ी पर
ऊदे-ऊदे-
बादल घिर आए थे...

झड़ रही थीं
फूलों की तरह
चकमक चिंगारियां बन

* शास्त्रीजी मेरी पांच साल की बेटी को, दिल्ली से ही, 'कल्लू खरगोश' कहा करते थे; जो सिर पर ऊन के लंबे-लंबे कोनों वाली गहरी नीली स्वेटर पहनती थी। सागर में वह एम.ए. के बाद अब बी.एड. कर रही थी।

सदियों के दुःखों की-
रुद्ध कविता की वेगवती धाराएं;

त्रिलोचन की
हिम-धवल
दाढ़ी के तिलिस्म में
गुम होते जा रहे थे-
वेदना से बोझिल अलंकार;

हिलती हुई
कड़ियल काठी में
तनी तांत-सी-
नस-नस से झंकृत,
गूंज रही थी छंदों के
दारुण रुदन की गमक!



शलभ श्रीराम सिंह

एक दिन

पृथ्वी पर जन्मे
असंख्य लोगों की तरह
मिट जाऊंगा मैं

मिट जाएंगी मेरी स्मृतियां
मेरे नाम के शब्द भी हो जाएंगे
एक-दूसरे से अलग
कोश में अपनी-अपनी जगह पहुंचने की
जल्दबाजी में/अपने अर्थ तक समेट लेंगे वे

शलभ कहीं होगा
कहीं होगा श्रीराम
और सिंह कहीं और

लघुता-मर्यादा और हिंस्र पशुता का
समन्वय समाप्त हो जाएगा एक दिन
एक दिन/असंख्य लोगों की तरह
मिट जाऊंगा मैं भी

फिर भी रहूंगा मैं
राख में दबे अंगार की तरह
कहीं न कहीं अदृश्य, अनाम, अपरिचित
रहूंगा फिर भी- फिर भी मैं।

(विदिशा 1991)

प्रस्तुति : कृष्ण प्रताप सिंह



पवन करण

एड़ियां

हम जब भी साथ-साथ
सीढ़ियां चढ़ते, मैं पहले तुमसे
सीढ़ियां चढ़ने की कहता
तुम चौंककर पूछतीं क्यों
क्या तुम मेरे साथ नहीं चलोगे,
मैं तुमसे कहता
तुम चढ़ो तो सही, मैं आता हूं
और मैं नीचे रुककर
जीने चढ़तीं तुम्हारे पैरों की
उजलीं एड़ियां देखता

जब तुम सर्दियों की धूप में
पत्थर से रगड़-रगड़कर
अपनी एड़ियां धोतीं
तुम्हें चिढ़ाते हुए मैं कहता
इस पत्थर ने
तुम्हारी एड़ियों को
नहीं चमकाया
बल्कि तुम्हारी एड़ियों ने
घिस-घिसकर इस पत्थर को
चमका डाला है

कभी-कभार तुम इन पर
महावर लगा लेतीं
तो मैं तुम्हें टोकता
अरे यार तुमने
इतनी सुंदर एड़ियों को
क्यों रंग डाला
कितनी बार कहा है
कि तुम्हारी एड़ियां

उन ऐड़ियों में से नहीं
जो महावर के लिए बनी होती हैं

हम बहुत बाद में मिले
हम पहले मिले होते तो मैंने
तुम्हारी इन ऐड़ियों को
तुम्हें झूला झुलाते हुए
अपने से दूर जाते
और पास आते भी देखा होता

इतना ही नहीं मैंने
पंजों के बल
रस्सी कूदते समय
लाल पड़ जाने वालीं
तुम्हारी इन ऐड़ियों में
कम से कम एक बार तो
अपना कंकर की तरह चुभना
जरूर महसूस किया होता।

चाँद की चिट्ठी

आसमान से मेरे नाम लिखी
चाँद की चिट्ठी आई है
मैं तुम्हें पढ़कर सुनाता हूँ

चाँद लिखता है इन दिनों
उसकी सांस गले में अटकी है

चाँद कहता है कि तारे
उसके पास एक-एक कर आते हैं,
और उसे मेरे चाँद
यानी तुम्हारे बारे में बताते हैं

वे उससे कहते हैं
कि हमारे बराबर तारे तो धरती पर

जब तुम मेरे सामने हँसती हो
तब बिखर जाते हैं

वे कहते हैं कि तुम्हारे
चाँद की प्रेमकलाओं के सामने
मेरी सब चंद्रकलाएं फीकी हैं

वे उसे बताते हैं कि
आकाश में हम तारों से ज्यादा
तो धरती पर लोग
तुम्हारे चाँद के दीवाने हैं

यहां तक कि लोगों ने
मेरी जगह उसे चाँद और तुम्हें
धरती पर आकाश मान लिया है

तुम्हारे चाँद के रूप दीवाने
ये तारे अब आकाश में
मुझे अकेला छोड़कर
धरती पर बसना चाहते हैं

चाँद अपनी चिट्ठी में मुझसे
पूछ रहा है क्या मैं आकाश में
तारा रहा हूँ कभी कोई ?

कहीं ऐसा तो नहीं तब अंजाने में
उससे दिल टूट गया हो मेरा
और बदला लेने के लिए उससे
धरती पर उसकी सौतन
यानी तुम्हें ले आया मैं।

पहली बारिश

पहली बारिश में हमें नहाते देख
बादल खूब बरसते

हमें नहाते देख बादलों से
झरने वाली पहली बारिश की
हर बूंद हमें भिगोना चाहती

बारिश की बूंदों का मन रखने
हम एक-दूसरे की कमर में हाथ डाले
बारिश की हर बूंद से नहाने की
करते हम कोशिश

झूर कर गिरती पहली बारिश के
धुंधले परदों में तरबतर हम
एक-दूसरे को बाहों में भरते
एक-दूसरे को चूमते

मुझे अकेले खड़े देख
पहली बारिश मुझसे
तुम्हारे बारे में पूछ रही है
कहां हो तुम वह मुझसे
जानना चाहती है

पहली बारिश मुझसे कह रही है
मेरे अकेले के लिए
बरसने का मन नहीं उसका

पहली बूंदों ने यह फैसला
मुझ पर छोड़ दिया है
या तो मैं तुम्हें बुलाऊं
या फिर वे बिना बरसे चली जाएं

गुलाब जामुन

हँसते समय तुम्हारे गालों में पड़ने वाले
गड्डे देखकर मैं सोचता
कि एक बार इस गाल के गड्डे में
और एक बार उस गाल के गड्डे में
गुलाब जामुन खायी जाए रखकर

क्या करूं गुलाब जामुन के प्रति
तुम्हारी दीवानगी देखकर
मुझे इसके अलावा कुछ सूझता ही नहीं
गुलाब जामुन तुम खतीं
मगर वह घुलता मेरे मुंह में

मिठाई की जिस दुकान के
गुलाब जामुन तुम्हें पसंद आते
मुझे लगता जैसे वे वहां
बस तुम्हारे लिए ही बनते हैं
तुम्हारे पूछने पर दुकान
टोक भी देती अरे परसों ही तो
ताजे बने थे तुम आई हीं नहीं

गुलाब जामुन खाने को लेकर
तुम्हारी ललक देखकर मुझे लगता
जैसे मैंने अपनी कविता की किताब
देते हुए तुम्हें तुमसे
प्रेम का इजहार किया अपने

कहीं ऐसा न हो कि किसी दिन
कोई दोने में भरे गुलाब जामुन
बढ़ाते हुए तुम्हारी तरफ तुम्हारे प्रति
अपना प्रेम प्रकट न कर दे

तुम्हारे आने की तारीख

केलेंडर यदि तारीखों से भरा आकाश है
तो मेरी आंख में पूर्णिमा के चांद सी अटकी है
तुम्हारे आने की तारीख

तुम्हारे आने की तारीख
केलेंडर में सबसे अच्छी तारीख है
मुझे तो अच्छी लगती बस यह

यदि ट्रेन में हवा के पहिये लगे हैं
तो तुम्हें लेकर आने वाली ट्रेन
मारते हुए जोर की सीटी
तुम्हें बिठाकर मेरी तरफ
भागती है खूब तेज
जैसे कह रही हो मुझसे
पहुंचो, कि आ रही हूं उसे लेकर

दीवार पर हवा में फड़फड़ाते
केलेंडर की ही तरह मगर
तड़प इतनी कि
तुम्हारे आने की तारीख में
छिपी होती है तुम्हारे जाने की तारीख

कि हवा के पहियों वाली
तुम्हें लाने वाली ट्रेन
सौ गुनी रफ्तार से
लेकर जाती है तुम्हें वापस ।



शैलेय

माया

मैं अपनी छाया में था
उससे बाहर निकलना चाहता था
डर रहा था कि
खुले में
कहीं मैं इतना न बिखर जाऊं कि
छितरा ही जाऊं

मैंने
अपने को कस कर पकड़ लिया

अब मैं छटपटा रहा था और
छाया है कि
मुझ पर
हँसी पर हँसी हँसे जा रही थी

मैंने नए सिरे से
अपने से फिर बात करनी चाही
लेकिन तब तक
पकड़ मुझसे छूट चुकी थी
मैं छिटक कर
जाने कहां भटक चुका था
खोए हुए की आवाज है कि
भीतर का सब
बाहर का है
बाहर ही में घुल-मिल घुल-मिल
भीतर-भीतर खोजो
यहीं कहीं सबका वजूद है

वैसे भी
छाया-माया अलग-अलग हों
जीवन इतना सरल कहां है?

मुगालता नहीं

एक मुगालते में कि
मैंने जो किया
ठीक किया
मैं जीता रहा औ हारी हुई लड़ाइयों की लज्जा
फजीहत से
खुद को दरकिनार करता रहा

यहां तक कि
कुत्ता भी अगर कभी काट खाया तो
मैंने उसे भी एक
बुरी बला का टल-निपट जाना ही कहा
संतोष किया कि
कुछ दर्दिले इंजेक्शन जरूर लगेंगे
पागल होने से तो बच ही जाऊंगा
जीवन रह जाएगा

नासमझी
विनम्रता कहलाती रही

पर आज
इस असहाय अवस्था में
रह-रह कर मैं ही
ऊंची आवाज पुकार लगा रहा हूं कि
कहीं कोई मुझे मुगालते में न ले

मैं हकीकत में हूं
किसी को भी हकीकत में चाहता हुआ।

क्या हो कि जिंदगी

एक दिन जाने क्या हुआ कि
फूल कर कुप्पा हुआ दिल
सहसा बुझने लगा
नसों में खून के थक्के जमने लगे

कभी नहीं सोचा था कि
प्रेम में भी
पुरवैया झोंके इतने घातक सिद्ध होंगे

स्वास्थ्य लाभ के लिए
मुझे ताउम्र
दवा लेते रहने की हिदायत दी गई है
अतिरिक्त जज्बात पर
सख्त नियंत्रण को कहा गया है

मैं खुद भी उन्हें
मैली-फटी कमीज की ही तरह
दिल से निकाल
दूर फेंक देने की कोशिश में जुटा हूँ
किंतु
एक बार भी जो दिल में उतर जाए
फिर वह
बाहर भला कब निकलता है

घुलकर नसों में दौड़ने लगता है

क्या हो कि
जिंदगी ही कहीं
किसी रोज कोई
मैली-फटी कमीज न लगने लगे।

आंगन

उस पार वह
भरी-भरी हँसी का एक स्वेटर बुन रही है
एक हँसी
एक घर
हजार हँसी
हजार घर-

यह सीना
यह पीठ
यह गला
ये हाथ
तो यह हुआ हँसी का एक पूरा
स्वेटर तैयार

इधर
मैं भी जैसे राजमिस्त्री ही हूँ
भरोसे के कुछ दरवाजे
कुछ खिड़कियां
कुछ सरिया-बजरी-सीमेंट
ईट दर ईट
एक
दो
तीन
ये-चौथी दीवार
और यह लो अब तो छत भी डाल दी है
हँसी का यह स्वेटर
भरोसे का यह मकान
कि आंगन तो जैसे लहक-लहक आया है कि
आखिर तो रास्ते मुझसे ही खुलते हैं।



रमेश प्रजापति

अंतिम आदमी

वह पानी की आवाज थी
जो नदी के देह से सराबोर
आ रही थी पहाड़ों से
दुःखों से भरी
फूल-सी उजली
चांदनी में नहाई
सूरज की तपिश में
झिलमिला रही थी
अंतिम आदमी के माथे पर

राजपथ पर खो गया
अंतिम आदमी की पीड़ा
मापने का पैमाना
प्रार्थना में उठे
उस अंतिम आदमी के हाथ
काटने पर उतावली थी समय की कुल्हाड़ी
जो बसते थे बापू के सपनों में

उस अंतिम आदमी से मिलना चाहता हूं
जिसकी समुद्र से गहरी है
दुःख सहने की क्षमता
पहाड़ से चौड़ा है जिसका सीना
नारियल के खुरदुरे तने-से
लहलहा रहे हैं जिसके हाथ
जिसकी सांसों से
महकता था जंगल
जिसके कानों में गुदगुदाती थी नदी
समय की मार झेलता
जो बिजूका-सा खड़ा रहता था रात-दिन
खेतों में
आज अपनी प्रतीक्षा में
अछूत-सा खड़ा हाशिए पर

सफेद गुंबदों से उठी आवाज
तब्दील होकर घोषणाओं के श्वेत-पत्र में
दम तोड़ देती हैं
अंतिम आदमी तक आने से पहले

फिर भी
अंतिम आदमी का वजूद
रोज बढ़ रहा है खरपतवार-सा
एकटक निहारते ध्रुव तारे की तरह
धीरे-धीरे मुस्कुरा रहा है बापू।

जूते में चुभी कील

ढूंढ़ रहा हूं
टूठ पेड़ पर उदास बैठी
चिड़ियों की चहचहहाट
गिलहरियों की उछलकूद
और समय की गंदली नदी में खोई
बेटी के हाथ छूटी अठन्नी

ढूंढ़ रहा हूं
सुहागिन की बिंदी में दमकते इंद्रधनुषी रंग
समुद्र में डूबते सूरज की मुस्कुराहट
सांझ का सलेटीपन
गोधूलि में लौटती घंटियों की टुनटुन
चरवाहे की मीठी थकान
और हुक्का गुड़गुड़ाते बुजुर्गों का मिल-बैठकर
बतियाने का रिवाज
खो गया जो
आधुनिकता की अँधी दौड़ में

ढूंढ़ रहा हूं
मां की सूजी आंखों के
सूखे पड़े जंगल का हरापन

बच्चों की नींद में चाँद की गुदगुदाहट
पसीने से तर-ब-तर मजदूर की हँसी
लड़कियों का अल्हड़पन

बाजार की चकाचौंध में
फीकी पड़ गई रिशतों की चमक
महत्वाकांक्षाओं के बस्तों में दब गई
बच्चों की घमाचौकड़ी
मरुभूमि में बदल गई
वह उर्वरा भूमि
जिसमें उगायी थी पुरखों ने कभी
सभ्यता की उजली फसल
और विचारों के बीहड़ में गुम हुई कविता

इस बेरहम समय में
हांप रहा हूँ चढ़ते हुए जीवन की चट्टान
और जूते में चुभी समय की कील से
लहलुहान हैं पांव ।

चीखना मना है

पेड़ कटा
परिंदों की आंखों में
गई उदासी फैल

पहाड़ के गुस्से से
तलहटी में लुढ़ने लगे पत्थर
चीत्कारों से भर गई घाटी
खून से उमड़ी नदी में
छटपटा रही हैं प्रार्थनाएं

नदी गुराई
हिलने लगी किसान के घर की नींव
कांपने लगा सूरज का सिंहासन

मुजफ्फरनगर के डरे-सहमे
राहत शिविरों पर

बेखौफ बरसा रही है हवा
बर्फ के बुझे तीर
सियासत के दांव-पेंच में
तोड़े जा रहे हैं चालाकी से
सद्भावना के वे महीन धागे
जिन्हें बुनते रहे जीवन भर
रहीम और कबीर

चतुर्दिक पिटवाया है व्यवस्था ने
ढिंढोरा
कि चीखना मना है
क्योंकि चीखने से

शांति भंग होने का खतरा है
सो, बादल अब गरजते नहीं
बल्कि ऐसे बरसते हैं
कि बहा ले जाते हैं सब कुछ

मेरा यह शहर
नए दौर का मगध बन गया बंधु!
यहां सबकी जुबानों पर ताले लगे हैं
नींद में जो चिल्लाते हैं
वे आंखे खुलते ही गिड़गिड़ाते नजर आते हैं

बस! इसी सोच में डूबा
कई रोज
खुद से ही लड़ने के बावजूद
अचानक अवरुद्ध कंठ से
चीख उठा निर्बाध
एक साथ कंठों से फूटकर ढेरों शब्द
खौलने लगे
गूंगी-बहरी व्यवस्था के कानों में
और हवा में लहरा उठे
सैकड़ों कटे हाथ ।

सांझ का उतरना

उदास पेड़ पर
दिनभर की थकान मिटाने
लौटते ही परिदे के
पुलकित हो उठता पेड़ का मन
खुशी से भर उठता है हरिया का आंगन

बस! यहीं
बिलकुल यहीं उतरो सांझ
दिन की अंतिम बेला में
सिंदूरी हो गया
समुद्र के पेट पर मुंह फुलाकर बैठा सूरज
निर्जन की उदास पगडंडी पर बैठा
सुलझा रहा हूं बाजार में उलझे
रिश्तों के महीन धागे
आत्महत्या करते किसानों की विवशता

नदी की पनियाली देह पर
पहाड़ की तलहटी पर
जंगल की सघनता पर
पूजाघर के गुंबद पर
चिड़ियां के गीत पर
बच्चों की उछलकूद पर
दिन की थकी-हारी पीठ पर
चुपके से उतर रही है सांझ

हे! संध्या
उन परछाइयों पर उतरो
भाग खड़ी होती हैं जो
अंधेरे की आहट भर से ही

मोर के पंखों पर थिरकती
सुरमई सांझ
झील की नीली आंखों में
गिर गई चुपके से
भारी हो गया
पानी पर तैरती नाव का मन

उस वक्त
अच्छा लगता है सांझ का उतरना
जिस वक्त
दिन भर की मेहनत के आटे में गुथकर
सिकती है जरूरतमंद चूल्हों में
खिल उठती है खपरैलों की बांछें।

रोटी का गणित

सहन कर रही धरती
सूरज का आक्रोश
मां की सांसें
बेटों की करतूतें

क्रोध से कांपती हवा में
हिल उठती हैं पेड़ों की जड़ें
कठफोड़वे की चोंच-सी भूख
कुरेदती हैं भूखी अंतड़ियां

पूरब के दरवाजे पर
दस्तक देते ही सूरज के
मुस्कुराने लगीं दिशाएं
कूड़ा बीनते बच्चे से
यूं ही अचानक पूछ बैठा
बेटा! दो और दो कितने?
वह एकटक मुझे घूरते हुए
पेट पर हाथ मारकर बोला
'चार रोटी'

रोटी के गणित में उलझा
जिंदगी के इस अहम सवाल को सुलझाने में
उतना ही उलझता जाता हूं
जितना सुलझाने की कोशिश करता हूं
ये रोटी भी
क्या-क्या गुल खिलाती है दोस्त!



संस्मरण

भाऊ समर्थ : एक जिद्दी चित्रकार

प्रकाश मनु

भाऊ का अर्थ है विद्रोही- हर वक्त, हर हाल में विद्रोही चित्रकार और विद्रोह की यह प्रक्रिया जरूरी नहीं कि स्थूल रूप में हो, बल्कि भाऊ के यहां स्थूल रूप में तो वह नहीं ही हो सकती। हां, उसके बारीक रेशों को आप उनके समूचे कलाकार व्यक्तित्व में फैला पाएंगे। यहां तक कि आप पाएंगे कि जब तक यह विद्रोह है, भाऊ समर्थ कलाकार हैं। इस विद्रोह के न होने पर वे मानो कलाकार रह नहीं जाते। यह दीगर बात है कि वे जितना अपने समय से लड़े, उतना भीतर ही भीतर खुद से भी लड़े और यह खुद को बेहद प्यार करने के बावजूद हुआ। भाऊ उन लोगों में से हैं जो खुद को बेहद प्यार करते हैं, मगर शायद इसीलिए खुद पर अत्याचार भी बेहद करते हैं।

भाऊ के बारे में सोचने पर हर बार एक ही तस्वीर आंखों के आगे आकर ठहर जाती है। एक जिद्दी चित्रकार, जो जीवन को अपनी ठीक अपनी शर्तों पर जीना चाहता है और साथ ही संपूर्णता से भी जीना चाहता है। दुःख-आफतों के लाख थपेड़े आ पड़ें, गरीबी के कितने ही भंवर और तूफान, मान-सम्मान के लाख पचड़े और झुलसा देने वाले दुःख-दाह, लेकिन भाऊ को कोई अपनी प्रकृति से डिगा नहीं पाया। वे कला को अपनी शर्तों पर जीना चाहते थे और जीवन को भी। निरंतर दुःख-संघर्षों की आंव में तपते-गलते वे वहां आ गए, जहां कला और जिंदगी में कोई फर्क नहीं रह जाता। और कुछ मुकाम तो उनकी जिंदगी में ऐसे आए कि चौबीसों घंटे कला, तूलिका, कैनवस, रंग, शेड्स। और इसके साथ ही एक दीवानगी, एक अजब-सा पागलपन। यही उनकी जिंदगी थी, यही उनकी कला। कुछ और जैसे वे सोच ही नहीं सकते थे। और कला का आवेश जब उन पर तारी होता तो तूलिका की भी कोई बहुत जरूरत नहीं रह जाती थी। कोई ब्लेड, लकड़ी या टिन का टुकड़ा और इंजेक्शन लगाने वाली सिरिंज यहां तक कि हाथों का इस्तेमाल भी वे कर सकते थे। उनकी बहुत-बहुत गहरी संवेदना अपने लिए सृजन-माध्यम और औजार भी खुद ही खोज लेती थी।

यहां हम निश्चय ही भाऊ के शुरुआती प्रयोगों की चर्चा नहीं कर रहे, जब वे मूंगफली के छिलकों या सीधे-तिरछे अक्षरों को काट-काटकर चित्र बनाया करते थे। यह उनके जीवन का कच्चा दौर था। मगर बहुत जल्दी इस स्वयं निर्मित कलाकार ने कला की सिद्धता के आनंद को जान लिया और उनके किस्म-किस्म के प्रयोग शुरू हुए जो जीवन पर्यंत उनके साथ चले। भाऊ चित्रकला में आजीवन न सिर्फ प्रयोगशील रहे, बल्कि जिसे 'मैथोडीकल' कला या रूपवादी कला कहा जाता है, उसकी धज्जियां उड़ाने में भी उन्हें मजा आता था। हर बार उनकी कला किसी नए आवेश के साथ, किसी नए शिल्प, नए रूपाकार में फूटती और सबको चकित कर देती। यों भाऊ को कोई बांध नहीं

पाया। वे निस्सीम कला की दुनिया में उड़ने वाले निर्बन्ध कलापुरुष थे। हर क्षण हदों को तोड़ने वाले चित्रकार। उसी रूप में जिए और फिर उसी रूप में मरे भी-बगैर कोई समझौता किए।

जीवन को संपूर्णता से जीने के लिए, या कहें जीवन को अपनी हठीली शर्तों पर जीने के लिए जिस बड़ी संवेदना की जरूरत होती है, भाऊ के अंग-अंग में जैसे वह संवेदना पटी पड़ी है। करीब-करीब एक ऊर्जा-भट्टी थी उस आदमी के भीतर जो हर वक्त धधकती रहती और आधुनिक कला की गहनतम बारीकियों और जटिलताओं को आत्मसात करने वाली दृष्टि। उससे बड़ी कला-योग्यता और सामर्थ्य वाले लोग भले ही इस कला दौर में रहे हों, लेकिन उससे बड़े विजन वाले लोग, उससे बड़े दुर्धुर्ष कलाकार कम ही थे जो कला को किसी शैली या तकनीकी उलझावों में समेटकर रखने की बजाय, उसे खुले जीवन के विस्तार में लाना चाहते थे। उसे आम आदमी के जीवन के निरंतर घात-प्रतिघातों, सपनों, इच्छाओं और मर्मों तक दुःखों से जोड़ना चाहते थे और यह उन्होंने वाकई कर दिखाया।

एक तरह से देखें तो यह बड़े 'खतरे' और साहस की बात नजर आती है, लेकिन भाऊ 'अभिव्यक्ति के सब खतरे उठाने ही होंगे' वाली मुक्तिबोधीय जिद के कलाकार साबित होते हैं। आधुनिक कला, प्रयोगशील कला और उसका अमूर्तन भी इस लिहाज से उनके लिए कोई अजूबा नहीं। वे दूसरे बड़े कलाकारों की तरह अपनी कला को छुई-मुई नहीं रहने देते, जो आम दर्शक के नजदीक जाते ही कुम्हला जाए। इसकी बजाय भाऊ समर्थ साहस करके आम दर्शकों के बीच जाते हैं और उन्हें अपनी कला के दुस्साहसी प्रयोगों तक से जोड़ते हैं। धीरे-धीरे कला की बारीकियों तक में उन्हें उतारते हैं। यहां भाऊ एक अकुंठ और खुले-खिले कलाकार साबित होते हैं। जीवन का कलाकार। जीवन-संग्राम से अलग, जीवन की धूप-छांव से अलग कला के कोई मायने उनके लिए नहीं। उनके चित्र-संसार से गुजरते हुए मुक्तिबोध की कविता की ये लाइनें याद आती हैं कि अगर दिल में उत्साह हो, चाव हो तो पैरों से जमीन पर रेखाएं खींचकर भी चित्र बनाए जा सकते हैं! लगता है, मुक्तिबोध ने भाऊ समर्थ के लिए ही ये पंक्तियां लिखी होंगी।

यहां एक बात स्पष्ट कर दूं। भाऊ कोई तटस्थ चित्रकार नहीं है और न तटस्थता और निस्संगता को वे कला का बहुत बड़ा मूल्य मानते हैं। वे सच में एक आविष्ट कलाकार हैं। और सच में कला-रचना के समय वह आवेश उसके शरीर में, शिराओं में झनझनाने लगता है। जीवन में जो-जो कुछ देखा-भोगा, वही अपनी तरह वे अपने कैनवास पर उतारते हैं। और भावना में इस कदर बहते, बिंधे हुए कि जो कुछ उसके चेहरे पर आते-आते रह गया, वह सब भी आप यहां मौजूद पाएंगे। एक ओर आनंद का महाभोग तो दूसरी ओर दुःख के महाभारत के ध्वंसचिह्न भी। इसी बेपरवाही, इसी जिद के साथ कि कला में जीवन, जीवन में कला को उतारकर देखना है। यहां भाऊ के कलाकार व्यक्तित्व में इतनी अद्भुत लोच नजर आती है कि न तो कला की कोई शैली या प्रयोग उनसे अछूता रह सकता है और न अपने जीवन में आने-जाने वाले लोगों और उफानों को वे अपनी कला में आने से रोक पाते हैं।

इस लिहाज से भाऊ की चित्रकला को जो जानते हैं, उनके लिए 'मिस्सी' शीर्षक से उपलब्ध भाऊ की कहानियां पढ़ना अपने आप में एक सुखद और आश्चर्यजनक अनुभव हो सकता है। ये सभी आत्मकथात्मक कहानियां हैं और इनमें खुद भाऊ समर्थ, भाऊ के रूप में मौजूद हैं। यहां तक

कि भाऊ के मित्र, परिचित, पत्नी और बच्चों के चेहरे, नाम और व्यक्तित्व भी ठीक-ठीक वही हैं। तो इसे एक तरह से भाऊ की आत्मकथा ही मान सकते हैं। यह दीगर बात है कि इन दस कहानियों में उन्होंने अपनी जीवन के कुछ ही मोड़ दिखाए हैं और बहुतेरे दबे-ढके ही रह गए हैं। भाऊ के समूचे सृजनशील की संवेदना, लय, उतार-चढ़ाव और विस्तार, उसे कलाकार बनाने और बनाए रखने वाली शक्तियां और लोग एक गूंजती हुई पुकार की शक्ति में यहां मौजूद हैं।

भावना का उफान और एक अतीत-राग है जो भाऊ की इन कहानियों में लगातार बह रहा है। हालांकि कहीं यह भावना, यह अतीत-राग उस विचार से नियोजित भी है जो आने वाले जमाने की सच्चाइयों को विश्लेषित करता और कला को उसके रू-ब-रू रखने की चुनौती से भी मढ़ देता है। और यह विचार हलकी, मद्धिम छायाओं की शक्ति में भले ही हो, न यह कहीं डाला गया है और न फैशनेबल नारे की शक्ति में है। यह तो हो ही नहीं सकता। अलबत्ता 'मिस्सी' की कहानियां लिखते समय भाऊ की ठीक-ठीक मनःस्थिति क्या रही होगी, इसकी हलकी कल्पना हम कर सकते हैं। यह एक कलाकार का जेहाद है : भरपूर जेहाद। जैसे एक हाथ में कूची, दूसरे में कलम पकड़े वह दुस्साहसपूर्वक अपने समय और संदर्भों को खोल रहा हो, जिनके बगैर भाऊ की कला ही नहीं, आज के कला-इतिहास का बहुत-बहुत आवश्यक छूट जाता। इस लिहाज से 'मिस्सी' की कहानियां लाजवाब है। 'मिस्सी' को दो-तीन दफा पढ़ा है और मुझे याद नहीं पड़ता, कोई भी और कहानी-संग्रह पढ़कर मैं इस तरह समाधि जैसी अवस्था में पहुंचा होऊं।

कला में भाऊ की सबसे बड़ी प्रेरणा है मां, जिसने बचपन से उसे रांगोली माड़ना सिखाया। गोबर में रूई को मिलाकर दीवार पर आकृतियां बनाना सिखाया। चावल कूटकर सफेद रंग तैयार करना सिखाया। नागपंचमी के लिए मां चित्र बनातीं। पौष माह में रथसप्तमी के पाट प्रतीक-चित्रों में भाऊ से रंग भरवातीं, खूब प्रशंसा करतीं। मां की प्रशंसा से तो बालक भाऊ को उत्साह मिलता ही, आसपास के घर-मुहल्ले के लोग भी प्यार से बुलाने लगे। धीरे-धीरे वह रेखाकृतियां बनाने में कुशल हो गया। कभी-कभी नोटबुक में पढ़ाने वाले शिक्षकों के भी रेखांकन बनाता। चित्रकला प्रतियोगिताओं में जब-तब इनाम भी मिलने लगे। इस लिहाज से मां ही उनकी प्रथम कला-शिक्षक, गुरु और प्रशंसक थीं।

लेकिन मां ने कला-संस्कार सिर्फ इसी रूप में नहीं दिया। उन्होंने जीवन को पास से देखना और पढ़ना भी सिखाया। और स्नेह इतना कि अगर वह न मिला होता, तो बचपन में बेहद हठी भाऊ न जाने क्या से क्या हो जाता क्योंकि बचपन से ही वह कुछ अलग था। एकदम जिद्दी और अड़ियल। वह अन्याय बर्दाश्त नहीं कर पाता था। एक बार मई के महीने में आग उगलती धूप में वह नंगे पैरों खड़ा हो गया। पगतलियां लाल-भभूका होकर छाले उभर आए। रोता रहा, किंतु हटा नहीं। मां दौड़ती हुई आई, उठाकर गोद में लिया। वे रोती जाती थीं और पैरों में घी की मालिश भी करती जाती थीं। कितनी ही बार उन्होंने पिता से भाऊ को पिटने से बचाया और उसके हिस्से की मार खुद भी खाई लेकिन वे विचारशील थीं, स्त्रियां उन्हें सम्मान से देखतीं और कुछ न कुछ सीखने जाती थीं।

मां को याद करते हुए भाऊ ने लिखा, 'पुरुष-प्रधान व्यवस्था का मौन-संताप, पारिवारिक स्त्रियों को भुगतना ही पड़ता है। वह मेरी मां ने भी भोगा। एक ओर गुलाम शिक्षित, शोषित स्त्री तो दूसरी ओर सम्माननीय उदारमना, निर्मल शिक्षाविद्, दोनों भूमिकाएं मेरी मां ने निभाईं। सचमुच में वह अनपढ़

होते हुए भी एक विश्वविद्यालय ही थी। मैं छोटा था, हठ करता और बड़ों की मार खाता। तब मां मुझे कहानी सुनाती, स्नेह से सहलाती, कभी पुचकारते हुए कहती- भाऊ कैसे पेट भरेगा? तुझे जरा भी अक्ल नहीं है। मैं उत्तर देता-चिउड़ा खाकर।’

मां गुजरीं तो भाऊ एक साल तक बिसूरता ही रहा। भयंकर सदमा। पैदल ही बावन मील दूर अपने मामा के यहां लाखनी गांव आ पहुंचा। इस लालच में कि शायद मां वहां कहीं दिख जाएं। मगर मां वहां कहां थीं? वहां से फिर पैदल लौट पड़ा। बावन और बावन कुल एक सौ चार मील की पदयात्रा हो गई। भाऊ के शब्दों में, ‘मेरी मां मर चुकी है, यह मुझे मालूम था फिर भी खोजने निकला था। मेरा भोला मन मां के प्रेम हेतु ललचा रहा था, मां।’ और मां ही जैसे कला की खोज बनकर भाऊ के भीतर व्याप्त गई। कभी-कभी मां जैसी कोई महिला जाती हुई दिखती तो वे मां समझ आवाज देते। कभी-कभी लगता, वे मां के रूप में स्वयं को ही खोज रहे हैं। शिशु बनकर तड़प रहे हैं। भाऊ ने लिखा, ‘मां की मुझे रह-रहकर याद आती है। दुःख-सुख, मान-अपमान अनुरक्त-विरक्त उसके जीवन की सभी छवियां मैं स्वयं भी यहीं भोग रहा हूं। और उस समय मैं मां ही होता हूं... मां के वात्सल्य का युग जा रहा है, भोग और बलात्कार का युग आ रहा है। इसमें मैं ही जख्मी होता हूं और कराहता हूं।’

वैसे तो मां गुजर गई, लेकिन मां जीवित भी हैं। बल्कि भाऊ की तो जिद है कि वे स्वयं चाहे मर जाएं, लेकिन मां को जीवित रखेंगे। और हम जानते हैं कि भाऊ ने यही किया। लेनिन की तस्वीर में, साने गुरुजी में, भगत सिंह के बलिदान में, गुलाब बाबा की आंखों में, सावित्रीबाई फुले में- यहां तक कि बुद्ध, महावीर, ईसा, वान गॉंग, गोर्की, और प्रेमचंद को पढ़ते हुए उसी के अस्तित्व का भान होता है। और असल में तो मां एक पुकार है। कला की पुकारती हुई पुकार, जो कोई सीमा नहीं जानती और जीवन को समूचा खुद में ले आने की कोशिश में थरथरा उठती है। अद्भुत सृजन-प्रतीक है मां। भाऊ की यह पुकार सचमुच विकल कर देती है, ‘मां, तू मेरी कला में आ, आ आ। मेरी कलाकृतियों में अवतरित होकर दृष्टि के माध्यम से कला-मर्मज्ञों में तू प्रवेश कर। मां, तुझे खोजते हुए अनेक महिलाएं निकट आईं, गईं। किसी ने दिया, किसी ने फंसाया... मैं त्राहि-त्राहि कराह उठा। सृजन-प्रतीक मां तुझे खोजते हुए पैर खूनजार होने पर भी बढ़ता रहा। बिंदु-बिंदु टप-टप कलाकृति बनकर रक्त फैल रहा है।’

मां के बाद भाऊ के जीवन को और कला को सबसे अधिक प्रभावित किया शशी ने। भाऊ जब पहली बार उससे मिले, तभी उसके प्रेम और करुणापूर्ण नेत्रों और स्वर में छलकते अपनेपन से बंध गए। शशी के व्यक्तित्व में जितना स्नेह और अपनत्व है, उतनी ही उदात्तता और समझदारी भी। लगा कि यह युवती किसी और मिट्टी की बनी है। भाऊ से पांच वर्ष बड़ी शशी साफ-सुथरी मोटी खादी की साड़ी पहने थी। हाथों और चेहरे पर सफेद दाग, कान के पास झूलती घुंघराली लट। शशी के व्यक्तित्व में भावना और अपनापे के अलावा एक गहरी कलात्मक रुचि भी है, जिसने भाऊ को बांध लिया। और जिद्दी तो वह है ही, इसलिए भावनाओं के बड़े से बड़े रेले में बहती नहीं है। वह भाऊ पर बड़े से बड़ा विश्वास कर सकती है, बड़ा से बड़ा बोझ उस पर रख सकती है और गहरे आत्मसमर्पण के साथ मन का हर कोना उसे खोलकर दिखा सकती है।

भाऊ शशी के साथ जीवन जीने के सपने बुनने लगते हैं पर उनके विवाह के आग्रह को टालते

हुए वह यह तक कहती है कि आत्मसमर्पण के अतिरिक्त विवाह का क्या अर्थ है? और वह तो भावनात्मक रूप में हो चुका। असल में विवाह वह नहीं करना चाहती, 'भाऊ,...आप जहां हैं, वहीं ठीक हैं। भाऊ मेरी आंखों से टपकते आंसू देखते हो। मैं संभल जाऊंगी, पर भाऊ, तू अपने को संभाल। तेरी देश को जरूरत है, मुझे जरूरत है। शरीर यह देवता का दिया प्रसाद है। मन के साथ शरीर को भी संभाल भाऊ।'

शशी का व्यक्तित्व और बातें ऐसी हैं, जिनमें कुछ असाधारणता है। भाऊ को वह आकर्षित करती है, पर उसकी असाधारणता का सम्मान वे कैसे न करें? शशी बहुत निकट होकर भी कुछ अबूझ सी है। विवाह से उसके इनकार का कारण भी बहुत सीधा-सरल नहीं है। वह बहुत आगे तक देख रही है और स्त्री-पुरुष संबंधों के नंगे और जटिल यथार्थ से वाकिफ है। वह भाऊ से प्रेम करती है, इसलिए उनके मन या जिंदगी में कोई दयनीय जगह वह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकेगी। भाऊ के पत्र में विवाह के बाद संयम बरतने की बात पर उसकी प्रतिक्रिया है, 'नहीं भाऊ...ऐसा बर्ताव संभव नहीं। प्रकृति का यह खेल...तपस्वी विश्वामित्र कहां संभाल सके? तेरी छोड़ रे, पर मैं ही...मैं कैसे सह सकूंगी? मैं जल्दी बूढ़ी हो जाऊंगी और तू भरपूर जवानी में...मैं तुझे पूर्ण सुख नहीं दे सकी, तेरे लिए पूरी नहीं पड़ सकी तो? भाऊ तुझे मैं पसंद हूं, यह स्वीकार। तू भी मुझे भाता है, पर भूमिका यहां अलग है। पसंद यह वासना के पेट में भी हो सकती है। वासना की बाढ़ उमड़ी कि मैं तेरे लिए कुछ न रह जाऊंगी।'

हालांकि शशी खुद भी इस प्रेम में कम नहीं सुलग रही। वह खुद भी देह की आंच को महसूस कर रही है। बीच-बीच में अपनी विकलता भी खोल-खोलकर रखती जाती है, 'तेरे बिना मैं रह नहीं सकती। तेरे न होने पर क्या मेरा जीना संभव है? और तेरी स्मृति में मैं सुलगती रहती हूं। ऐसा कैसा है रे तेरा प्रेम? मां की सौगंध खाकर मुझे वचन दे, तू स्वस्थ मन से जाएगा। मेरी विवाह करने की इच्छा होगी, तो तुझी से करूंगी, परंतु तू मेरी प्रतीक्षा मत कर। मेरा तुझ पर प्रेम है, अतः मैं तुझसे विवाह न करने का त्याग दिखा रही हूं और कभी भी या किसी से भी विवाह करना हुआ तो तेरी अनुमति लूंगी।'

इसके बावजूद शशी भाऊ की कला-साधना की बड़ी दूर से निगरानी कर रही है। उसे विश्वास है कि भाऊ एक बड़ा कलाकार है और बड़ा नाम कमाएगा। वह भाऊ के बहुत सिगरेट पीने, सिनेमा देखने पर नाराजगी जताती है, किसी अच्छी लड़की से विवाह करने की सलाह देती है। उसे भावनाओं के उद्दाम प्रवाह में बहने से रोकती है। खुद शशी का जीवन एक जलती हुई नदी की तरह है, लेकिन उसे खुद से ज्यादा भाऊ का दुःख, भाऊ की चिंता है, 'भाऊ, तुझे स्वयं को नष्ट करने का अधिकार नहीं। तू संघर्ष कर, तुझे तो चाहिए, तुझे वह मिलेगा। तू मुझसे प्रेम न कर, ऐसा मैंने कभी कहा क्या? प्रेम एक पवित्र वस्तु है। तू चाहे तो मुझे अपनी राधा समझ, परंतु तुझ पर मेरा प्रेम सगे भाई से भी अधिक है। बंधु प्रेम! मेरे तुझ पर इस प्रेम के बीच तू आड़े नहीं आएगा, ऐसा विश्वास है...!'

भाऊ के पूरे जीवन में शशी के प्रेम की यह उजास फैली है- एक निर्मल, उन्निद्र चांदनी की तरह। गहरे समर्पण और अटल विश्वास की तरह। ऐसा विश्वास जो बड़े से बड़े दुःख और आघात में उन्हें टूटने से बचाता है और कमर सीधी करके चलने की ताकत देता है। शशी का विश्वास कितना गहरा है, यह इसी से पता चलता है कि दुःख-संकट में फंसी शीला और शांताबाई को वह भाऊ के

पास भेजती है सुरक्षा के लिए। भाऊ संकट मोल लेकर भी उनकी सुरक्षा में कोई कमी नहीं आने देते और अपनी सामर्थ्य से बढ़कर भाग-दौड़ और खर्च करते हैं। कई विश्वसनीय मित्रों का सहयोग लेने के साथ-साथ निराश्रित शांताबाई को भाऊ ने अपने एक आत्मीय मित्र किशनराव के पास हैदराबाद भेजा था पर एक दिन हैदराबाद जाने पर उसी स्त्री की आंखों के मूक सवाल के आगे भाऊ मानो बिद्ध खड़े रह गए।

वे शांताबाई और दोनों बच्चियों को लेकर एक किराए के मकान में चले आते हैं और बहुत थोड़े सामान के साथ एक संक्षिप्त गृहस्थी की शुरुआत होती है। इस संक्षिप्त गृहस्थी को पहला आशीर्वाद शशीताई का ही मिलता है। शशी जो भाऊ के जीवन के संकट क्षणों में कवच बनकर उपस्थित रही, शशी जो भाऊ के जीवन की निरंतर प्रेरणा रही, शशी जिसने भाऊ की कला को गहरे और अंतर्मुखी अर्थ दिए, उदारता और व्यापकता दी। सच तो यह है कि संबंधों के उस लंबे इतिहास में भाऊ ने जब-जब पीछे देखा, उन्हें शशी की स्मृतियों के मनोहर बिंब झिलमिलाते नजर आए।

भाऊ के शांताबाई से विवाह का प्रसंग भी बड़ा अजीब है। शांता की सुरक्षा के लिए भाऊ ने अपने मित्र बी. कृष्णराव से कहा। कृष्णराव अपने घरवालों की नाराजगी के बावजूद शांता और बच्चियों को हैदराबाद वाले अपने मकान में ठहरा लेते हैं। मराठी वातावरण में पत्नी शांता वहां अजीब-सी घुटन महसूस कर रही है। भाऊ के पास उसके दुःख से भरे पत्र लगातार आते हैं। भाऊ जैसे-तैसे दूढ़ते हुए हैदराबाद के मकान में पहुंचते हैं। आंखें लाल सुर्ख, उलझे केश, थका-मांदा चेहरा। शांता चाय का कप लाकर रखती है और दो-चार मीठे शब्दों में अपनी सहानुभूति उड़ेल देती है। इधर भाऊ की हालत यह है कि 'मैं मृतक समान जी रहा था प्राण-हरण किया एक सक्रिय शरीर। आमलेट उड़ाया, चाय पी, सिगरेट फूँकी। मासिक पत्रिका चबाई। कृष्णराव अभी तक नहीं आए। मैं सो जाता हूँ।' उठने पर शांता का आग्रह, 'तुम्हारी छाया की तरह रहूंगी...मैं मरूँ या जिऊँ, उत्तर चाहिए।'

वहां से भाऊ नागपुर आए, शांता बच्चियों के साथ अमरावती चली जाती है। बाद में भाऊ के अमरावती जाने पर शांता अपने कष्टों का बयान करती है। शांता की बहन द्वार के पीछे से बोली, 'इतनी झंझट उठा रहे हो तो तुम्हीं उससे विवाह क्यों नहीं कर लेते? खाली तो हो।' शांताबाई कहती है, 'विवाह कर लो न?' और विवाह हो जाता है। विवाह यानी घोर अंधेरे में जीवन की एक नई खोज, नई यात्रा, 'एक ड्राइंगबोर्ड और कपड़ों का संदूक लेकर मैं घर छोड़ देता हूँ। किराए के कमरे में आ टिकता हूँ। अलसुबह शांताबाई बच्चियों को लेकर अमरावती से आ जाती है। कमरे की सफाई करती है, संवारती है। उसे सामान लाने हेतु दो सौ रुपये देता हूँ। दोपहर को बाजार से लाई गई पूड़ी-भाजी का भोजन होता है। नए किराए के कमरे में मेरी पहली रात्रि ही अंधार-यात्रा थी, नई खोजोन्मुख।'।

लेकिन वह यात्रा सिर्फ भाऊ के लिए ही नहीं, शांताबाई के लिए भी खोजोन्मुख थी। एक अनपढ़ स्त्री ने भाऊ जैसे कलाकार को निकट से समझने, संभालने और दुःख और बेचैनी जैसी स्थितियों को झेलने के लिए, जिनकी भाऊ के जीवन में अनिवार्य जगह थी, खुद को कैसे तैयार किया होगा? कैसे खुद को तिल-तिल जलाया, मिटाया होगा, यह खुद में एक करुण इतिहास है जिसकी बुद्धिजीवियों में शायद कभी चर्चा नहीं होगी।

आगे चलकर भाऊ की जीवन-यात्रा में तमाम तरह के लोग, तमाम तरह के चरित्र, तमाम तरह

के अनुभव जुड़ते चले जाते हैं। इनमें विधवा मकान मालकिन सीताबाई पाटलीन एक दिलचस्प और बोल्ड चरित्र है, जो बदनामियों के बावजूद जीवन अपने ढंग से जीती है। उसका दिल सचमुच बड़ा और उदार है। भाऊ को तमाम संकटों में सीताबाई पाटलीन की मदद मिली। शुरू में गृहस्थी का बहुत सारा सामान उसी ने भिजवा दिया और उसके कारण एक तरह की अपनत्वभरी सुरक्षा तो थी ही, 'रघु का जन्म होने के बाद वह उसे खिलाती रहती। वह बीच में उसे संभालती भी रही। मेरा रेडियो पर भाषण होता कि वह पड़ोस में जाकर सुनती। वह मेरी बड़ी सराहना करती। मैं रात को चित्र बनाता तो वह दोपहर में शांता से वे चित्र निकलवाकर देखती बैठी रहती। मैं रात-बिरात घर लौटा और शांता गहरी निद्रा में होती तो पाटलीन बाईं द्वार खोलकर लौट जाती।...सच पूछो तो पाटलीन बाईं मेरे घर की रखवाली थी। कोई रिश्तेदार मेरी अनुपस्थिति में शांता का अपमान करता या धमकाता तो उस पर निगाह रखती और उसे डपटकर भगा देती...।'

एक और दिलचस्प चरित्र है, राइटर न्यूज एजेंसी की फैशन संपादिका रोजाना गोर्क। वह अपने मित्रों मिनू और हिक के साथ भाऊ के चित्रों की प्रदर्शनी लगाने का निश्चय करती है। मिनू के बंगले में प्रदर्शनी लगाने की योजना बनती है। मिनू और रोजाना मिलकर चित्र टांगते और इस काम में तंद्रा की हद तक डूबे रहते। चित्रों को देखने लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। शहर के तमाम प्रतिष्ठित लोग इस प्रदर्शनी को देखने के लिए आए। तमाम चित्र खरीदे भी गए। भाऊ को सचमुच एक बड़ा एक्सपोजर मिला। रोजाना उसकी कला के लिए, कला जीवन के लिए वरदान साबित हुई। बीच में रोजाना के मिनू से विवाह और डिक की प्रतिस्पर्धा और अन्यमनस्कता की समांतर कहानी भी चलती है, जिसकी कुछ स्थितियां तो ट्रेजडी और कॉमेडी के अजीब सम्मिश्रण की तरह लगती हैं।

'मिस्सी' की आत्मकथात्मक कहानियों में भाऊ ने अपने प्राध्यापक मित्र शंकर तिवारी को भी याद किया है और खूब याद किया है। भाऊ के कला-जीवन और संघर्ष में शंकर तिवारी ने सचमुच अपने ढंग से बड़ी मदद की। शंकर को पता है कि भाऊ बिना खाए रह सकते हैं, लेकिन बिना रंगों के नहीं। इसलिए भाऊ जबलपुर आए तो शंकर रंग-सामग्री पहले ही लाकर रख लेते हैं। यहां भाऊ के कला-जीवन का एक बिल्कुल नया प्रयोग शुरू होता है, संगीत की ताल पर झूमते हुए चित्र बनाना। स्वर रंगों के माध्यम से आकार ग्रहण करने लगते और संगीत चाक्षुष माध्यम में ढल जाता है। भाऊ ने खुद एक जीवित 'समाधि' जैसे अपने अनुभव का बयान किया है, 'शरीर में संगीत की लय प्रवेश कर जाती। मैं आंखें मूंद लेता, संगीत चलता रहता। संगीत मेरी शिराओं में उतरता जाता और मैं संगीत में डूब जाता। इतना अवश्य होता कि वाद्य संगीत की रंग-बिरंगी छटा के रंग मेरी आंखों के आगे तैरने लगते। रूपाकार नजरों के सम्मुख थिरकने लगते।'

जब शंकर ने खुद यह देख लिया कि किस रिकॉर्ड पर कौन-सा चित्र बना और वह स्वरों का प्रभाव उसमें किस खूबसूरती से झलक आया है, तो वे दौड़कर पूरी कॉलोनी को ही उठा लाए। अभिजात लोगों की कॉलोनी। संगीत रंगों के माध्यम से कैसे उभरता है, लोगों में यह देखने की बेहद उत्सुकता है। भाऊ को लोग घेरे खड़े हैं और भाऊ की हालत यह है कि, 'पुनः रिकॉर्ड शुरू होता। मन एकाग्र, मैं सुध-बुध खो बैठता। जैसे मैं ही वह गीत हूं। रंग थपेड़ता, थोपता, कूची से उसे फैलाता, तुषारकणों की तरह रंग छिड़कता, कूची की डंडी से रंग बिखराता, उंगलियों से सहलाता, पानी छिड़क देता, रूमाल से भी पोंछ देता। संगीत में भी ऐसा ही कुछ चलता रहता। सब लोग एकदम स्तब्ध

खड़े।...उनकी शांत आंखों से आदर उमड़ रहा था।’

संगीत पर बने भाऊ के चित्रों की एक दर्शिका मुन्नी भी थी- एक वेश्या की पुत्री। भाऊ उसके आग्रह पर उसके घर जाते हैं और उसकी मां से मिलकर चकित रह जाते हैं। यह वही बेनीबाई थी जो वर्षों पहले अपनी सुंदर चाल-ढाल और राजसी गौरव के साथ उनके घर आई थी तो सारा मोहल्ला देखने उमड़ पड़ा था। आज वही शुभ्र वस्त्रों में लिपटी थी। निराशा के जालों से आवृत एक झुर्रीदार नवाबी सौंदर्य। भाऊ पर वह सगे बेटे की तरह प्यार लुटाने लगती है, शंकर और मुन्नी स्तब्ध।

शंकर तिवारी के घर भाऊ की बहुत लोगों से मुलाकात हुई इनमें मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री श्यामाचरण शुक्ल की पत्नी भी थीं, जो बहुत आदर से भाऊ को भोपाल ले जाने के लिए कह रही थीं। शंकर तिवारी भाऊ को जानते थे, इसलिए उन्होंने इनकार कर दिया लेकिन अपने मित्र डॉ. सतीश और डॉ. तृप्ति के आग्रह को वे टाल नहीं सके। भाऊ मित्र के आग्रह की रक्षा करते हुए डॉ. दंपति की कार में बैठकर उनके साथ चल देते हैं लेकिन यहां जो अनुभव हुआ, वह उनके जीवन का कभी न भुलने वाला अध्याय है। डॉक्टर दंपति के यहां इतना प्यार, इतना सम्मान, इतनी प्रतिष्ठा उन्हें मिली, जैसे एक-एक क्षण उनका ख्याल रखा जा रहा हो। सब तरह की सुविधाएं और पूरी निश्चिंतता। खुद डॉ. तृप्ति ने अपने साथ ले जाकर, आग्रहपूर्वक ढेरों कपड़े और सामान खरीदवाया। उनके घर भी पत्नी और बच्चों के लिए कपड़ों का पार्सल और रुपये भेजे।

इतना ढेर सारा इकट्ठा सुख-स्नेह और आदर था यहां, जिसकी बड़े-बड़े कलाकार भी आशा न कर सकते हैं। शहर में उपलब्ध सारी कला-सामग्री, कैनवास, ऑयल, रंग, कूचियां, तेल, वार्निश, प्लेट नए खरीद लिए गए। स्कैच-बुक, ड्राइंग पेपर, जलतरंग भी। रात-दिन चित्र, चित्र और चित्र-यही चलता था। हाथों में रंग लिपटा रहता, तो कभी-कभी डॉ. तृप्ति खुद खाना खिला जातीं, दूध-चाय पिला जातीं। यहीं शंकर तिवारी से मनमुटाव का एक छोटा, अप्रिय प्रसंग भी चला। उनका एक शैलीगत सुझाव भाऊ को अपनी कलात्मक संरचना के हिसाब से बेमेल लगा। उन्होंने उसे नहीं माना। इस पर चिढ़कर शंकर तिवारी ने भाऊ को एक ‘आर्थिक गाली’ दी लेकिन भाऊ को पता था, उन्हें क्या करना है, क्या बनाना है। कला वे सिर्फ अपनी शर्तों पर बनाते थे। अपने जीवन के कुछ बेहतरीन तैलचित्र उन्होंने यहां बनाए। शंकर तिवारी को भी शायद अपनी गलती समझ में आ गई। अपने पीड़ित अहं के बावजूद कभी-कभी वे भी भाऊ समर्थ से मिलते रहते।

अंत में विदा के क्षणों में डॉ. तृप्ति की उदासी सचमुच करुणार्द्र करने वाली है। और यहीं यह रहस्य खुलता है कि भाऊ जब पढ़ाते थे, तब उनकी कक्षा में एक तृप्ति घोष थी। वही तृप्ति घोष आज की डॉ. तृप्ति है। चलते समय डॉ. तृप्ति ने एक पत्र दिया। उस पत्र में लिखा था, ‘मेरे स्वयं के एक लाख रुपये बैंक में हैं, जब भी जरूरत हो, मांग लेना। वे तुम्हारे ही हैं, ऐसा समझना।’ कुछ वर्ष बाद घुप अंधेरे की तरह यह दुःखद समाचार मिला भाऊ को कि डॉ. तृप्ति इस संसार में नहीं रहीं। डॉ. तृप्ति शायद इन कहानियों की सबसे गंभीर, सबसे धीरोदात्त लहर हैं उनमें विकलता कम नहीं है, लेकिन कही गहरे अतल में छिपा लेना वे जानती हैं। डॉ. तृप्ति का प्रेम गहरा है- बहुत गहरा, जिसमें श्रद्धा-सम्मान की अनंत लहरें हैं।

इन कहानियों में ‘मिस्सी’ भी है, बल्कि किताब का नाम ही ‘मिस्सी’ रखा गया है- और मिस्सी में वैसी गंभीरता न सही, लेकिन मिस्सी आखिर मिस्सी है। उसमें चंचलता है द्रुत लहरों वाली

चंचलता। एक तरह की सख्ती और दृढ़ अधिकार भाव है। बराबरी से जीने की इच्छा और पुरुष-मैत्री की चाह, अपने होने की दुर्दम्य चेतना- और उस सबके भीतर पैठा हुआ कहीं बहुत कोमल, बहुत सुकुमार, प्रेम का बिरवा। उसका आवेश, उसका आह्वान बहुत कठोर भी हो सकता है और यहां मिस्सी सिर्फ मिस्सी है, किसी भी और पात्र जैसी नहीं।

मिस्सी और भाऊ के मिलने की कहानी भी विचित्र है। हुआ यह कि एक शाम दो अमरीकन लड़कियां भाऊ को खोजते हुए शहर भर में भटकीं। बाद में भाऊ के मित्रों ने उन्हें बताया कि कल वे दोनों युवतियां बैंक आफ महाराष्ट्र की सीताबर्डी शाखा पर मिलेंगी। अगले दिन सचमुच वे आई-मिस्सी और उसकी सखी बार्बरा। पता चला, मिस्सी अपना पोर्ट्रेट बनवाना चाहती है। समय तय करके वह भाऊ के घर पहुंचती है और फिर भाऊ को अपने घर ले जाती है। उसने शरीर पर पहने कपड़े उतार दिए, जांघिया छोड़कर पूर्णतया निर्वसन हो गई। भाऊ धड़ाधड़ उसकी नग्न देह रेखांकित करने लगे। बहुत रेखांकन बनाए। बीच-बीच में उसके स्वभाव और प्रकृति के बारे में पूछते जाते, ताकि यह पोर्ट्रेट, पोर्ट्रेट कम, 'पर्सनेलिटी पेंटिंग' ज्यादा लगे। भाऊ ने ऐसे नौ व्यक्ति-चित्र बनाए। उन्हें देखकर मिस्सी के चेहरे पर ऐसा आनंद छलक उठा, जैसे आकाश में चांदनी झिलमिला रही हो। तभी तय हुआ कि मिस्सी भाऊ को अंग्रेजी पढ़ाया करेगी, बदले में भाऊ उसे हिंदी पढ़ाएंगे।

इस बीच मिस्सी अच्छी हिंदी बोलने लगी थी। उसने शरारतन श्रीमती समर्थ से पूछा, अगर भाऊ से उसका विवाह हो जाए तो उन्हें कैसा लगेगा? इस पर उस अनपढ़ स्त्री का शानदार जवाब सुनकर दाद दी। और भी ऐसी चंचल शरारतें, ऐसे दुस्साहसी करतब, मूड्स जो एक युवती के भीतरी अज्ञात कोनों को दर्शा जाते हैं। इनमें सबसे जबरदस्त दुस्साहसी प्रयोग था भाऊ के साथ मिलकर एक ही कैनवास पर चित्र बनाना। दोनों की सर्जनात्मक शक्तियों का यह मेल अद्भुत है। एक अनोखा, लेकिन सार्थक प्रयोग। कोई भी कलाकार जिस अनुभव के लिए शायद तरसता हो, क्योंकि बगैर एक बड़ी और गहरी अंडरस्टैंडिंग के- और साफ शब्दों में कहें तो बगैर एक-दूसरे से प्यार किए, यह हो ही नहीं सकता। खुद भाऊ से उनके इस अनुभव के बारे में सुनना चाहिए-

'प्रतिदिन सुबह, दोपहर, शाम और कभी-कभी रात्रि को भी हमारा चित्र बनाना चलता रहता। दोनों मिलकर एक ही कैनवास पर मन में जैसा आता, वैसे रंग उड़ेलते। दो संस्कृति, दो देश, दो प्राणी, एक स्त्री और एक पुरुष, दो मनो के स्पंदन एक ही कैनवास पर शृंखला के रूप में एकाकार होकर प्रकट होते। निर्मित चित्र किसी एक के नहीं, दोनों के होते। कभी कूंची का जहां वह आघात करती, उसी के समीप में भी करता। रंगों के चयन की स्वतंत्रता जैसी उसे, वैसी मुझे भी। एक मिनट वह कैनवास पर रंगों से खेलती और दूसरे मिनट मैं।...जहां चित्र पूरा हो जाता, वहीं हम 'मिभास्सीऊ' ऐसे हस्ताक्षर कर देते। उसमें अपने नाम के अक्षर वह लिखती और अपने अक्षर मैं। मिस्सी और भाऊ मिलकर 'मिभास्सीऊ'।'

यहां तक कि 'मिभास्सीऊ' के चित्रों की अलग प्रदर्शनी भी लगी और वे चित्र बिके खूब, चर्चा हुई। इस सृजन-क्षेत्र में सहयोगात्मक प्रयोग के तमाम विचित्र अनुभव भी हुए। भाऊ ने उनमें दो-एक का जिक्र किया है। एक बार वे चित्र से एकाकार थे। मिस्सी की बनाई गरम चाय का कप वैसा ही रखा था। भाऊ चित्र में रमे हुए थे, जैसे आसपास का कुछ होश ही न हो। तभी 'तुम चित्र बनाते हुए कितने सुंदर लगते हो' ऐसा कहकर मिस्सी उनके पीछे जाकर खड़ी हो गई और अपने भुजपाश

में बांधकर उन्हें जमीन पर लिटा दिया, 'मैं चित्त गिरता हूँ, तभी मेरे गालों पर पटापट चुंबनों की बौछार। मेरा चेहरा लिपस्टिक से रंग जाता है। मैं अंदर-बाहर लाल हो उठता हूँ। मैं उठता हूँ, स्नानगृह में जाकर मुंह धोता हूँ। टॉवल से चेहरा पोंछता हूँ और आइने के सामने जा खड़ा होता हूँ।'

तभी मिस्सी की आवाज सुनाई देती है, 'कलाकार के चेहरे पर विलसता सौंदर्य मन को मोहित कर लेता है। मुझे क्षमा कर दो, मैं स्वयं को संभाल नहीं सकी।' यही मिस्सी चलते समय भाऊ से कुछ और नहीं मांगती, बस एक ही आग्रह है, 'तू मुझे भा गया है, अतः तेरे-मेरे एकात्म की जीवित निशानी...!' और भाऊ को अलग वेवलेंथ पर पाकर जब उसे धक्का लगता है, तो फिर वह भाऊ से कभी नहीं मिलती- जीवनपर्यंत नहीं। यों मिस्सी की कहानी एक अजीब ट्रेजिडी में बिला जाती है। वह कहां होगी? होगी भी या नहीं, भाऊ को कुछ पता नहीं?

इतने पात्रों के बीच भाऊ की जीवन-यात्रा और कला-साधना जिसके सहारे चलती रही और जो 'नेपथ्य' में रहकर भी भाऊ को संभालती रही, भाऊ को चिंताओं से मुक्त करने के लिए जिसने खुद सारे दुःख और चिंताओं का बोझा उठा लिया, खुद भूखी रही लेकिन परिवार को साधा, वह थी भाऊ की पत्नी शांताबाई। उसके जीवन का इससे बड़ा कोई गर्व नहीं कि वह भाऊ को संभालती है, एक कलाकार को उसने जीता है। जब उसकी सहेलियों के पत्र आते कि जैसा जीवन-साथी उसे मिला है, वैसा सबको मिले तो उसकी विजय का उत्साह और बढ़ जाता। शांता ने सचमुच इस कदर साथ दिया भाऊ का, जैसे कोई बिरला ही दे पाता है। साहस से उसने कष्टों का सामना किया और गुफा जैसे घर में भी रहना पड़ा हो, तो भी एक बड़े दिल के साथ जीवन जिया। उसमें धार्मिक जिद दुस्साहस की हद तक थी। भाऊ ने सोमवती अमावस्या को पत्नी के आग्रह पर उसके साथ कृष्णा नदी के तटीय जंगलों की यात्रा का जिक्र किया है, जबकि रात के घुप अंधकार में नदी उनसे सिर्फ दो फीट की दूरी पर बह रही थी।

धीरे-धीरे अनपढ़ होते हुए भी शांता भाऊ के मन और कला को बेहतर ढंग से समझने लगी थी। 'नारी स्वतंत्रता की गर्प्पें मारते हो और मेरी स्वतंत्रता का विचार नहीं करते।' ऐसा कहकर धमकाने भी लगी थी। कभी-कभी अपनी उपेक्षा और आर्थिक संकटों के आगे हार भी जाती। भाऊ के यहां बड़े-बड़े राजनेता जाते जो बाद में मंत्री बने। भाऊ उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकते- यह सोचकर पत्नी को गुस्सा आता। फिर भी अगर कोई भाऊ का अपमान करता, तो वह कतई बर्दाश्त नहीं कर पाती थी। कभी-कभी बहुत मासूमियत से वह एक छोटा-सा सवाल पूछती, 'क्या अपनी गरीबी से हम निजात नहीं पा सकते?' और जवाब में भाऊ की बड़ी-बड़ी बातों से उसे कतई तसल्ली न होती। वह एकदम आर्त होकर कहती, 'बाहरी उठापटक, अंतर्मन में विचारों का संघर्ष, रंग-सामग्री का अभाव, सांसारिक मान-अपमान और आपसी वैमनस्य। मैं अपने बच्चों तथा तुम्हारे लिए सुख-सुविधा की व्यवस्था नहीं कर सकती। मैं दुःखी हूँ।'

लेकिन दुःख के इस दाह और छटपटाहट में भी उसकी निर्णय-शक्ति में कोई कमी नहीं आई। शांता जैसे दूर तक देख लेती थी। जामवंत राव छोटे का आग्रह था कि भाऊ को मुझे राजनीतिक कार्य हेतु दे दो, उसकी आर्थिक स्थिति ठीक रहे, ऐसी व्यवस्था मैं कर दूंगा। इस पर शांता का दो टूक जवाब था, 'भाऊ का राजनीति में प्रवेश उचित नहीं। वह कलाकार ही है उसका जो भी कुछ होना है, ईश्वर ही करेगा।'

और कभी भाऊ पैसे के लिए मुलगांवकर या दलाल जैसे फरमाइशी चित्र बनाने लगते, तो भी शांता के लिए यह असह्य हो उठता। वह फौरन टोक देती, 'मांग के अनुसार चित्र बना रहे हो क्या? तुम्हारे लिए मैंने जिंदगी खपा दी। पैसे के लिए तुम चित्र बनाते रहे, तो कल लोग कहेंगे इस औरत ने भाऊ के भीतर के कलाकार को नष्ट कर दिया। मैं इसे सहन नहीं करूंगी।'

चित्रों की बारीकियों को वह समझने लगी थी और दो चित्रों में से कौन-सा बेहतर है, इसका उसे ज्ञान था। यहां तक कि एक दैनिक पत्र की महिला संवाददाता से उसने इंटरव्यू में बेधड़क कहा, 'भाऊ रंगों से खेलता है तो मैं ही उसे बताती हूँ कि अब रुक जाओ, चित्र पूर्ण हो गया।' आखिर में भी निरंतर दुःख झेलते हुए जब वह कुछ भावावेगी और उद्धिग्न हो गई थी, तो भी बीमारी से जर्जर होने के बावजूद उसे चिंता भाऊ की ही थी। कातर होकर भाऊ के एक मित्र से उसने कहा था, 'भाऊ बच्चों को संभाल लेगा, मुझे विश्वास है परंतु मेरे भाऊ को संभालने वाला कोई नहीं है। वह स्वाभिमानी और हठी है। मुझसे कितना समझौता किया, सही बोलने हेतु व्यवहार में लुका-छिपी उसे पसंद नहीं। उसके मित्रों में से ही उसके शत्रु पैदा हो जाते हैं, छोटे बच्चों जैसा उसका मन है। अब उनको भी संभालना।'

एक न एक दिन जाना तो सभी को है, लेकिन पहले सात माह की बेटी नीरा और अब पत्नी शांता की मृत्यु भाऊ समर्थ के लिए ऐसी ही थी, जैसे कला-धर्म और अपनी खुदारी के लिए उन्हें कुर्बानी देनी पड़ी हो। भाऊ के भीतर कोई हाहाकार कर रहा था, पछाड़ें खा रहा था। निराला की तरह यहां भी एक उबड़-खाबड़ जिंदगी थी। जिंदगी के हादसे थे, किसी शोकगीत के आलाप की तरह- 'दुःख ही जीवन की कथा रही...।'

इस दौर में भाऊ के जीवन में आए एकांत को पाटने की आधी-अधूरी कोशिश की कुसुम ने। एक ऐसा चरित्र जो भाऊ के जीवन में जितनी तेजी से आता है, उतनी ही तेजी से चला भी जाता है। यहां प्रेम तो है, पर वैसा नहीं जो संपूर्णता की लय हासिल कर सके। बीच में जैसे कोई संशय या असमंजस आकर खड़ा हो जाता है, जो उन्हें एकरूप नहीं होने देता। फिर भी कुसुम के व्यक्तित्व की अपनी खासियत तो है ही। भोपाल में तैल-चित्रों की प्रदर्शनी के दौरान वह भाऊ से मिली और उन्हें अपने साथ घर ले गई। वह निर्णयहीनता के दौराहे पर थी और उससे उबरने के लिए भाऊ का साथ चाहती थी। धीरे-धीरे भाऊ के प्रति उसकी निकटता बढ़ी और अधिकार भी लेकिन कुछ था जो भाऊ को उससे दूर रखता था और खुद भाऊ द्वंद्वातीत नहीं थे। दोनों के बीच कहीं एक अदृश्य दीवार सी थी, जो अभेद की स्थिति में बाधक थी। लिहाजा यह प्रेम पूर्णता की लय हासिल नहीं कर सका। एक अल्पकालिक लगाव बनकर रह गया।

कुसुम जैसे आई, वैसे ही चली भी गई, पर उसके साथ जिए गए अंतरंग क्षणों को भाऊ ने चित्रों में ढाल दिया। उम्र के इस पड़ाव पर यह एक नया ही अनुभव था। भाऊ ने इस बारे में भी बड़ी स्पष्टता और बेबाकी से लिखा है, 'निरंतर काम और काम। दौरे, चित्रांकन। चित्रों में भरपूर आय और वैसा ही खर्च। नींद नहीं। पलकें मूंदो तो चित्र, जागो तो चित्र। विश्राम करता तो चित्र भीष्म के वाणों की तरह बींध डालते। मन को कतई चैन नहीं। संघर्ष और संघर्ष। जीवन धधकते हुए चलता। निडर होकर साहस के साथ बोलने लगा। भाषणों की धूम मच गई। समाज और सत्ता को चुनौती देने वाला सत्य कभी-कभी मृत्यु-पर्यंत देह-दंड देने वाला भी बन जाता है, मुझे इसका

भी अनुभव हुआ। मैं कभी भी सम्राट हो सकता हूँ, कई बातें अंधकार में रह जाएंगी, इस हेतु मैंने आत्मकथा लिखी। जो लिखा, सब प्रकाशित हो गया। किसी भी वर्ष में जितने तैलचित्र नहीं बने थे, उतने इस वर्ष बनाए। मैं सुलग रहा था और कलाकृतियों का सृजन होता जा रहा था। भोपाल के मित्रों ने 'वसंत बहार' संस्था के माध्यम से तैलचित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की। अन्य मनोरंजन के कार्यों की उपेक्षा कर, इस मर्मज्ञ के इन चित्रों की ओर आकृष्ट हुए। कुसुम के विरह से एक शक्ति प्रकट हुई जो कला में उतर आई। इस शक्ति को मैंने कला में रूपांतरित किया। कुसुमी शैली का जन्म हुआ।...प्रदर्शनी देखने कुसुम भी आई। बोली- मैंने तुम्हें जो कुछ भी दिया, तुमने वह सारा का सारा चित्रों में उड़ेल दिया। तुमने कुछ भी गोपनीय नहीं रखा...!'

और देखा जाए तो यह खुलापन भाऊ के समूचे जीवन और शिखिसयत में है। खामखाह की गोपनीयता वे नहीं मानते। चीजों को छिपाने या सच्चाई को आंख की ओट कर देने में उनका यकीन नहीं इसलिए उसके जीवन में सच और झूठ, पाप और पुण्य की परिभाषाएं भी दूसरों से अलग हैं। क्योंकि चीजों के स्थूल विभाजन और स्थूल परिभाषाओं से उनका काम नहीं चलता। वे तो गहराई में, उसकी भावना और कशमकश तक पहुंचना चाहते हैं इसलिए उनके सारे संबंध दुनियावी अर्थों और भाषा से परे हैं। शशी का संबंध ऐसा ही है, मां को उन्होंने ऐसे ही जिया। शांता, मिस्सी, डॉ. तृप्ति, बेनीबाई, कुसुम, शीला, सीताबाई पाटलीन सभी का उनके प्रति प्यार है, लेकिन इस लगाव के अर्थ अलग-अलग हैं। सबकी उसके जीवन में जुदा-जुदा जगह है और सभी अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं बल्कि ये सभी मिलकर ही भाऊ के जीवन को अर्थ और पूर्णता की लय प्रदान करते हैं।

यों भाऊ जैसे आविष्ट कलाकार में अगर कोई लय हो सकती है तो वह सरलता की लय है, किसी शास्त्रीय राग की तरह जिसमें गहनता है, उतार-चढ़ाव है, सम्मोहन है, लेकिन छल-छद्म कहीं नहीं है। यह तय है कि भाऊ दुनियादारी का व्यवहार कतई नहीं जानते। व्यवहार की समझ उन्हें नहीं है, यानी वे प्रैक्टिकल कतई नहीं हैं। बचपन से ही भाऊ के नन्हें मन को जो अन्याय लगता, उससे वे बुरी तरह चिढ़ते, उसका प्रतिरोध करते। बड़े हुए तो उनकी समझ में आया कि अन्याय करने और फिर उसे सहन करने की जुगत करने का एक मीठा शब्द है- व्यवहार। खुद भाऊ समर्थ की स्वीकारोक्ति है, 'वह व्यवहार तब समझ में नहीं आया। अब आया तो जमता नहीं। सही बात यह कि व्यवहार को मैं ठीक से समझ ही नहीं पाया।'

शायद इसीलिए बचपन में मां मर चुकी है, यह मालूम होने पर भी मां को खोजने वे पैदल बावन मील दूर लाखनी चले गए और फिर पैदल ही लौटे। बड़े हुए तो चित्रों को लेकर यही बेपरवाही। चित्र खूब बनाए, खूब तबीयत से बनाए लेकिन वे कहां छप रहे हैं, बदले में कुछ पैसा आ रहा है या नहीं, इसका जरा भी होश नहीं। नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, मौलाना आजाद, रविशंकर शुक्ल, श्यामाचरण शुक्ल सभी के पास उसके चित्र पहुंचे। अनेक बड़े-बड़े नेता उसके चित्रों के प्रशंसक, लेकिन भाऊ का स्वाभिमानी मन अपनी जरूरतों के बारे में किसी के आगे नहीं खुला। जीवन में कई बार सिर्फ पानी पीकर गुजारा करना पड़ता। बच्चे तक भूखे हैं, लेकिन जो जिद ठान ली, वह ठान ली। भाऊ बड़ी दीवानगी से उन दिनों को याद करते हैं जब सिर्फ पानी पीकर वे रात-दिन चित्र बनाने में जुटे रहते थे, 'वे दिन। तीन-तीन दिन सिर्फ पानी पीकर गुजारे। यही अभिलाषा कि चित्र उकेरते-उकेरते

ही समाप्त हो जाऊं। केवल कला-साधना। चिड़िया कहां नौकरी करने जाती हैं? चित्र ही बनाना है। चित्रों में ऐसा जादू भरना है कि नजरें खिल उठें।’

चित्र बेचकर कम से कम इतना पा जाए कि परिवार का खर्च चलता रहे, इससे बड़ी कोई इच्छा, कोई सपना भाऊ का नहीं। लोगों को जीवन में कला का महत्व समझाओ और तब चित्र बेचो, इतनी लंबी और थका देने वाली प्रक्रिया में वे विश्वास किए बैठे थे और उसी के आधार पर किसी तरह जीवन चल भी रहा था। कभी-कभी बहुत सस्ते में चित्र बेचने पड़े। वे चित्र जो दिल्ली, बंबई में हजारों के बिकते, उन्हें भाऊ ने सिर्फ कला-सामग्री के खर्च में थोड़ा सा अपना खर्च जोड़कर बेच दिया। एक सज्जन तो घर से यों ही चित्र लेकर चले गए। बाद में कभी भाऊ ने राह में पकड़ा तो बोले, ‘तुम खुद तो चित्र मुफ्त बांटते हो मैंने ले लिया तो क्या हर्ज?’

इस सबके बावजूद भाऊ का जीवन चलता रहा तो उसका कारण वह आनंद, वह एस्थेटिक प्लेजर था, जिसने उसे पूर्णता की लय में जीना सिखा दिया था। शंकर तिवारी के यहां संगीत पर आधारित कला-चित्र इसी आनंद की अभिव्यक्ति थे, जिन्हें देखने लोग पागलों की तरह टूट पड़े थे। और भाऊ की हालत? उनका आनंद पहले समाधि में बदलता है और फिर वे करीब-करीब बेहोश हो जाते हैं। यह अनुभव भाऊ के ही शब्दों में सुनना चाहिए-

‘अब दुःख के दिन बीतत नाहिं...इस गीत की स्वर-लहरी ने मुझे अक्षरशः बेधकर रख दिया। दृष्टि शून्य से एकाकार हो गई। मैं अभिभूत हो उठा। रिकॉर्ड चल रहा था, मैं सुन रहा था। मैं बैठ गया। कागज और रंग सामने रख लिए। एक निःश्वास छोड़ा, विश्वास बटोरा। सब लोग अर्ध चंद्राकार मुझे घेरकर खड़े थे। वातावरण गंभीर हो उठा। मैं रंगने लगा। आंखों से आंसुओं की धारा फूटकर मेरे गालों में बह निकली। एक चित्र पूरा किया, वह लय शरीर से बाहर जाने की प्रस्तुत नहीं। दूसरा चित्र पूरा होता है। मैं ढह जाता हूं। आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई...कानों में शरीर में गाने की लय गूंज रही है- अब...दुःख...के दिन...!’

मुझे लगता है, यह लय तो खुद भाऊ के जीवन की है। भाऊ ने अपना पूरा जीवन इसी दुःख और आनंद की मिली-जुली लय में जिया और खूब जिया। भाऊ ने ऐसा जीवन जिया जो सिर्फ भाऊ का हो सकता था। और उनका जीवन कमरे में बंद कलाकार का जीवन नहीं था। उसमें हजारों-हजार लोगों के दुःख, पीड़ाओं, संघर्ष और आनंद की अभिव्यक्ति है बल्कि उनके चित्रों से निकल-निकलकर लोग हमारे सामने जा खड़े होते हैं, हमें चीन्हते और सवाल पूछते हैं तो फिर भाऊ सरीखा बड़ा कलाकार मरा कैसे? मर कैसे सकता है?...वह तो हमेशा-हमेशा के लिए अपने दीवानगी भरे चित्रों, रंगों, रेखाओं और लोगों की स्मृतियों में समा चुका है। किसी भी कलाकार के जीवन की इससे बड़ी सार्थकता और हो भी क्या सकती है!



वाह अंबरसर! वाह-वाह वाघा!!

रूप सिंह चंदेल

1977 के अक्टूबर माह की बात है। एक मित्र से यशपाल का 'झूठा सच' प्राप्त हुआ। विभाजन की त्रासदी ने मेरे अंदर हलचल मचा दी। उस उपन्यास के पात्र आज भी मेरे अंदर जीवित हैं। यद्यपि उसके बाद मैंने भीष्म साहनी का 'तमस' भी पढ़ा, उस पर निर्मित धारावाहिक भी देखा और द्रोणवीर कोहली का 'वाह कैप' भी; परंतु 'झूठा सच' से इन दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। 'झूठा सच' को विश्व के कालजयी उपन्यासों में स्वीकार किया गया है। जहां तक भीष्मजी के उपन्यासों की बात है उनके 'मय्यादास की माड़ी' की उत्कृष्टता निर्विवादित है। वह 'तमस' से श्रेष्ठ है। उसके कथ्य की मौलिकता, शिल्प वैशिष्ट्य और भाषा सौष्ठव उसे उल्लेखनीय सिद्ध करते हैं, लेकिन मेरा अभिप्राय 'तमस' को कमतर कर आंकने का नहीं है।

'झूठा सच' को पढ़ने के बाद से ही मैं उन जगहों को देखने की इच्छा पाले रहा जहां के कैंपों में पनाह लेने के लिए अपने वतन से उजड़कर आए लाखों लोग अभिशप्त हुए थे। अमृतसर भी उन जगहों में एक था। 1977 से मन में पल रही वह अभिलाषा पैंतीस वर्ष बाद पूरी हुई। आश्चर्य होता है दिल्ली से मात्र 448 कि.मी. की दूरी और पैंतीस वर्ष!! दिल्ली से चलकर 1 सितंबर, 2012 को रात साढ़े दस बजे मैं अमृतसर रेलवे स्टेशन पर था। रात के अँधेरे में किसी शहर के निकट पहुंचते हुए जिस प्रकार की रोशनी दिखाई देती है वैसा कुछ नहीं दिख रहा था। सोचा, शायद शहर अभी दूर है, लेकिन साथ की सवारियों ने उतरने की तैयारी शुरू कर दी तो मानने को विवश हुआ कि शताब्दी ट्रेन कुछ देर में ही स्टेशन पर पहुंचने वाली है। ट्रेन की गति मंद से मंदतर होती गई लेकिन रोशनी में नहाए शहर की कल्पना साकार नहीं हो रही थी। समूचा शहर उदासी की चादर में लिपटा हुआ लगा। मन में सवाल उभरा कि क्या हम वाकई उसी शहर में प्रवेश कर रहे हैं जहां 'स्वर्ण मंदिर' नाम से विश्व भर में ख्यात तीर्थ है और जिसकी वीर-प्रसूता धरती पर माथा टेकने की अभिलाषा साढ़े तीन दशक बाद आज पूरी होने जा रही है या उस शहर में जहां इतिहास में दर्ज जनरल डायर की क्रूरता को प्रमाणित करता जलियांवाला बाग अपने बदन पर बने बंदूक की गोलियों के निशान दिखाता आज भी जांबाजों की तरह तना खड़ा है? आगामी दस मिनट में हम अमृतसर रेलवे स्टेशन पर थे। किसी छोटे शहर के स्टेशन की भांति विश्रामालय में ऊँघते कुछ लोग थे और किसी ट्रेन की प्रतीक्षा में चहल-कदमी करते कुछ छात्र-छात्राएं। शताब्दी की सवारियों के बाहर निकल जाने के बाद उस एकमात्र आबाद प्लेटफार्म नं. एक पर शेष वही राही रह जाने वाले थे और उनके जाने के बाद 'रात का सन्नाटा शायद वहां रेंगने लगेगा' मन ने सोचा।

स्टेशन से बाहर आते ही कुछ पैडल-रिक्शे और तिपहिया ऑटो वाले मिले। होटल के लिए

ऑटो लेते हुए मैंने अनुभव किया कि दिल्ली जैसी लूट वहां नहीं थी। वह हमें होटल 'रूपा इंटरनेशनल' ले गया जहां से स्वर्ण मंदिर मात्र दस मिनट पैदल की दूरी पर था। स्टेशन के आसपास दुकानें अवश्य खुली हुई थीं, लेकिन पांच सौ मीटर की दूरी तय कर लेने के बाद भयावह सन्नाटा था। रौंगटे खड़े कर देने वाला। इक्का-दुक्का कारें या मोटर साइकिलें उस सन्नाटे को चीरते हुए तेजी के साथ बगल से गुजरतीं तो सुकून मिलता, लगता कि डरने की कोई बात नहीं है, सब ठीक-ठाक है। कुछ और आगे बढ़ने पर सड़कें सूनी और अंधेरी थीं। केवल चौराहों पर कोई दुकानदार अपनी दुकान बढ़ाने की तैयारी करता दिख जाता था। शहर के आम निवासी सच ही लंबी तान सो चुके थे या सोने की तैयारी कर रहे थे। ऐसे में, ट्रेन के डिब्बे में बैठे हमको शहर की रोशनी कैसे दिखती!

अमृतसर के विषय में कहा जाता है कि वहां तुंग नाम का एक गांव था। सिख गुरु रामदास ने 1564 में (कुछ इतिहासकारों के अनुसार 1570 में) सुल्तानविंद गांव की जमीन पर 'संतोखसर' नाम से एक सरोवर बनवाना प्रारंभ किया था जो 1588 से पहले बनकर तैयार नहीं हो सका। वही सरोवर स्वर्ण मंदिर परिसर में स्थित है। इस सरोवर के साथ ही एक बेरी का पेड़ है जिसे 'दुखभंजन' कहा जाता है। इसके विषय में किंवदंती है कि सरोवर निर्माण के समय से वह वहां विद्यमान है। श्रद्धालुओं में उस पेड़ की मान्यता का अनुमान उसके नाम से ही लगाया जा सकता है।

गुरु रामदास ने 1574 में तुंग गांव के लोगों से 700 रुपयों में कुछ जमीन खरीदी और भवन निर्माण करवाकर वहां रहने आ गए। शिष्यों ने उनके रहने की जगह को उन दिनों 'गुरु का चक्क' नाम से पुकारना शुरू कर दिया, लेकिन बाद में उसका नाम बदलकर चक्क रामदास हो गया था।

यह जानकर कि हम अमृतसर जा रहे हैं और यह देखकर कि हम न तो सिख हैं और न ही पंजाबी, शताब्दी में बगल की सीट पर बैठे सज्जन ने बिना पूछे ही हमें स्वर्ण मंदिर के विषय में बताना प्रारंभ कर दिया था। वह बता रहे थे 'स्वर्ण मंदिर को हरमंदिर साहब कहते हैं। पहले वह हरिमंदिर था भगवान विष्णु का मंदिर, जहां बैठकर तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना की थी।' उन्होंने और भी बहुत-कुछ बताया था लेकिन मैं उनकी सभी बातों को शब्दशः याद नहीं रख पाया, तथापि मौन श्रोता बना रहकर सुनता अवश्य रहा था। प्रतिवाद करना उचित नहीं समझा था। हरमंदिर साहिब कभी हरिमंदिर रहा होगा लेकिन तुलसीदास! मेरे लिए वह किंवदंती-सा था। स्वर्ण मंदिर के विषय में यह बात अवश्य कही जाती है कि नींव गुरु के दो-हिंदू और मुसलमान शिष्यों ने रखी थी। हिंदू-मुसलमान शिष्यों की परंपरा लंबे समय तक चलती रही थी। कहते हैं कि स्वर्ण मंदिर में 1902 तक हिंदू मूर्तियां भी स्थापित रही थीं। उन मूर्तियों को हटाने की चर्चा 1896 में प्रारंभ हुई और अंततः 1902 तक सभी मूर्तियां वहां से अन्यत्र स्थानांतरित कर दी गयी थीं। शायद यही कारण रहा होगा कि वहां 1902 तक हिंदू बच्चों के मुंडन संस्कार होते रहे थे।

तुंग गांव में गुरु रामदास के आ बसने से वह स्थान अंततः रामदासपुर के नाम से जाना जाने लगा, जो कालांतर में अंबरसर और फिर अमृतसर बना। हरमंदिर साहिब जिसे पाश्चात्य मीडिया गोल्डेन टेंपल (स्वर्ण मंदिर) कहता है सिखों का धार्मिक और सांस्कृतिक केंद्र है। लगभग एक लाख श्रद्धालु प्रति सप्ताह इस पवित्र स्थान में आकर मत्था टेकते हैं। अमृतसर से लाहौर की दूरी मात्र 32 किलोमीटर (सीमा से) है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहां की आबादी 11, 32, 761 थी। फैलाव की दृष्टि से देखें तो एक घंटा से भी कम समय में इस शहर की एक छोर से दूसरे छोर की दूरी नापी जा सकती है।

अमृतसर शहर दिल्ली की ही भांति कटरों में बसा हुआ है। ये कटरे सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दी में बने थे, जहां संकरी गलियां मुझे दिल्ली के चांदनी चौक और जामा मस्जिद के आसपास के कटरों-कूचों और कानपुर के कुछ इलाकों की याद दिला रहे थे। जिस होटल में हम ठहरे थे, उसके सामने की सड़क स्वर्णमंदिर से आकर घूमती-बल खाती हुई रेलवे स्टेशन की ओर जाती है। वह ज्यादा नहीं, मात्र बीस फीट चौड़ी है। होटल के सामने जो मोहल्ला था वहां मैं पतली गलियां देख रहा था। उन्हें देखते हुए मुझे चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' के लहना सिंह की याद हो आई। उसने ऐसी ही किसी गली में कहानी की नायिका से पूछा था, 'तेरी कुड़माई हो गई?'

सितंबर, 2 को सुबह आठ बजे होटल से निकलकर हमटहलते हुए स्वर्ण मंदिर पहुंचे। सड़क 'वन वे' है। उसपर आते हुए इक्का-दुक्का पैडल-रिक्शा थे या धड़धड़ाते, धुआं छोड़कर दौड़ते हुए तिपहिया टेंपो। कारोबारी लोगों की कारें ट्रैफिक नियमों की धज्जियां उड़ाती हुई दाहिनी ओर यानी राँग साइड से तेजी से गुजर रही थीं। वही हाल टेंपोवालों का भी था। फुटपाथ एक फीट से अधिक चौड़े नहीं थे। निश्चित ही, उन्हें पतला करके... गरीबों की तरह उनका हक मारकर ही मुख्य सड़क बीस फुट चौड़ी बनाई जा सकी होगी। फुटपाथ पर चलना कठिन था। पैदल चलते हुए किसी कार या टेंपो द्वारा रौंदे जाने का खतरा हर पल सिर पर सवार रहता था, लेकिन उस शहर को, जहां कभी स्वाधीनता आंदोलनकारियों और क्रांतिकारियों के चरण पड़े थे, जीने का सुख पैदल चलते हुए ही था। पैदल चलते मैं अतीत के उन क्षणों को भी जीता जा रहा था।

हम तीन थे मैं, पत्नी और बेटी माशा यानी मालविका। हम आपस में चर्चा कर रहे थे कि मंदिर को जाते हुए लोग तो दिख नहीं रहे फिर कैसे यह कहा जाता है कि हजारों लोग प्रतिदिन दरबार साहिब के दर्शन के लिए जाते हैं लेकिन 'भरावां का ढाबा' के निकट पहुंचते ही हमारा भ्रम टूट गया। हम जिस सड़क से जा रहे थे यहां वह पूरी गोलाई के साथ मुड़ती थी। वहां से जो दृश्य दिखा, उसे देख हम हतप्रभ थे। मंदिर की ओर जाते हुए लोगों की अपार भीड़ देख हकीकत समझ आई थी। हम उस रास्ते से गए थे जो गुरुद्वारा से स्टेशन की ओर जाता था। ऑटो या कारों में दौड़ते लोग मंदिर से लौटने वाले थे, मंदिर की ओर जाने वाले दूसरे मार्ग से वहां पहुंच रहे थे। मंदिर के प्रांगण में जन-समूह हिलोरें ले रहा था। दरबार साहिब के दर्शनार्थ बहुत लंबी पंक्ति थी, जिसके विषय में बताया गया कि दर्शन के लिए कम से कम चार घंटे का समय चाहिए। एक घंटे तक मंदिर के स्थापत्य को देख और सरोवर के पास खड़े होकर कुछ चित्र लेकर हम बाहर आ गए। जलियांवाला बाग स्वर्ण मंदिर के निकट ही दो मिनट की दूरी पर है। एक ढाबे में अमृतसर के मशहूर आलू-कुलचे का स्वाद लेकर जब हम उससे बाहर निकले तब हमारी दृष्टि सामने एक ऑफिस पर जा टिकी जिस पर अंग्रेजी में 'प्रीपेड टैक्सी' लिखा हुआ था। काउंटर पर लगभग पैंतीस वर्षीय हड़ा-कड़ा सिख युवक बैठा था। वाघा बॉर्डर जाने के विषय में पूछने पर उसने संयुक्त टैक्सी भाड़ा बताया। स्वयं ए.सी. टैक्सी का जो भाड़ा उसने बताया वह होटल वाले द्वारा बताए टैक्सी भाड़े से पर्याप्त कम था। आशंका हुई सुविधा-असुविधा को लेकर; लेकिन मन ने कहा कि यह सिख युवक झूठे वायदे नहीं करेगा। हमने उसे तय कर दिया; और मन की बात ठीक निकली। उसने साढ़े तीन बजे टैक्सी के होटल पहुंचने की बात कही थी और ठीक साढ़े तीन बजे टैक्सी ड्राइवर होटल के बाहर था।

टैक्सी बुक करवाकर हम जलियांवाला बाग के अंदर पहुंचे। यद्यपि यह बहुत पुराना बाग है लेकिन 13 अप्रैल, 1919 को वरिष्ठ ब्रिटिश सैन्य अधिकारी रिजिनाल्ड एडवर्ड हैरी डायर द्वारा 300

से अधिक देशभक्तों की नृशंसतापूर्वक हत्या करवा देने से यह उस जघन्यता के लिए विश्व भर में कुख्यात हो गया था। यह महाराजा रणजीत सिंह (1780-1839) के दरबारी सरदार हिम्मत सिंह जालेवालिया (मृत्यु 1829) की संपत्ति थी, जो जाला नामक गांव से आए थे। इस परिवार को जालेवाले, जाले या जाले कहा जाता था। यह गांव अब पंजाब के फतेहगढ़ साहिब जिले का हिस्सा है।

10 अप्रैल, 1919 को स्वतंत्रता सेनानी सत्यपाल और किचलू अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर से मिलने उसके निवास पर गए थे, लेकिन उन्हें गिरफ्तार करके कार द्वारा हिमाचल के धर्मशाला भेज दिया गया। विरोधस्वरूप आंदोलनकारियों ने शहर में हड़ताल की घोषणा कर दी। लगभग 50 हजार लोगों की उत्तेजित भीड़ ने डिप्टी कमिश्नर के बंगले की ओर प्रस्थान किया, लेकिन ब्रिटिश पुलिस ने भीड़ को रेलवे स्टेशन के पास पैदल पारपथ पर रोक लिया और उसे तितर-बितर करने के लिए गोलियां चला दीं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 12 लोग मारे गए और लगभग तीस घायल हुए लेकिन बाद में आई कांग्रेस जांच समिति की रपट के अनुसार मरने वालों की संख्या 20 से 30 थी।

इस गोलीबारी में मरने वाले लोगों के शवों को आंदोलनकारी सड़कों से लेकर निकले। जनता में उबाल स्वाभाविक था। भीड़ ने बैंकों और सरकारी कार्यालयों पर हमले किए और पांच यूरोपियनों को मौत के घाट उतार दिया। क्रुद्ध भीड़ को काबू करने के लिए फौज बुला ली गई। 11 अप्रैल को एक प्रकार से शहर में अशांत शांति रही। उसी शाम जालंधर से 45वीं इंपैट्री ब्रिगेड का कमांडर जनरल डायर अमृतसर पहुंचा। पांच यूरोपियनों की हत्या और सिटी मिशन स्कूल की प्रबंधक और चर्च ऑफ जनाना मिशनरी सोसाइटी के लिए कार्य करने वाली मिस मार्सेला शेरवुड पर कूचा कुरिछन में हुए हमले की सूचना से डायर बौखला उठा। 12 अप्रैल को डायर ने सभी सभाओं पर प्रतिबंध की घोषणा कर दी। 13 अप्रैल को बैसाखी का त्यौहार था। आसपास के गांवों से हजारों की संख्या में लोग, जिनमें अधिकांश सिख थे, अमृतसर में एकत्रित हुए थे। स्थानीय नेताओं ने लोगों को शाम साढ़े चार बजे जलियांवाला बाग में सभा के लिए एकत्रित होने के लिए आह्वान किया। जनरल डायर के लिए यह चुनौती थी। उसने पहले ही 470 ब्रिटिश और 710 भारतीय सैनिकों को एकत्र कर रखा था। 50 राइफलधारी सैनिक, सैनिक साजो-सामान से लदी कारों और मशीनगनों को शांतिपूर्ण सभा कर रहे लोगों की ओर तैनात कर रखा गया था। सभा में दो पहला, रौलट एक्ट वापस लेने और दूसरा, 10 अप्रैल की फायरिंग की भर्त्सना करने के प्रस्ताव पारित किए गए। तीसरे प्रस्ताव पर विचार चल ही रहा था कि सवा पांच बजे जनरल डायर वहां पहुंचा और प्रवेश द्वार के पास खड़े राइफलधारी सैनिकों को गोलियां चलाने का आदेश दिया। बीस मिनट तक अबाध गोलियां चलती रहीं। 1650 राउंड गोलियां दागी गयीं। बाग में जाने और निकलने के लिए एक ही रास्ता था। वहां तैनात राइफलधारी सैनिकों की गोलियों का तांडव जारी था। बाग के शेष तीन ओर मकानों की ऊंची दीवारें थीं या बाग ही की ऊंची दीवार थी। सभा में स्त्रियां, बच्चे और वृद्ध भी थे। गोलियों की बौछार से बचने के लिए वे सभास्थल के पास स्थित कुंआ की ओर भागे और प्राण बचाने के लिए उसमें छलांग लगाने लगे। उनकी चीख-पुकार से शहर स्तब्ध था, लेकिन बाग के मुख्य द्वार के पास खड़ा जनरल डायर अट्टहास कर रहा था। उस भयावह दृश्य का अनुमान लगाया जा सकता है। युवकों ने दीवारों पर चढ़ने के प्रयास किए और पीठ में धंसती गोलियों से धराशायी होते गए। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 379 लोगों को मौत के घाट उतारने और 1200 से अधिक को घायल कर वह नरपिशाच जिस रास्ते से आया था अपने सैनिकों सहित उधर से ही वापस लौट गया।

प्रवेश द्वार से हम सीधे 'शहीदी कुआं' के पास पहुंचे, जिसे चारों ओर से ढक दिया गया है। उस पर लिखा है 'शहीदी कुआं'। देर तक हम कुएं में झांककर देखने और उन चीखों को सुनने का प्रयास करते रहे जो बाल, वृद्ध और महिलाओं ने मौत के आगोश में जाने से पहले की होंगी लेकिन कुएं में गंदे पानी के अतिरिक्त न कुछ दिखा न सुनाई पड़ा। हम पास की उस दीवार के सामने खड़े थे जिसकी लाल ईंटों पर आज भी अनेक गोलियों के गहरे निशान डायर की क्रूर कहानी बयां कर रहे हैं। वहां से हटकर हम उस स्थल के पास पहुंचे जहां शहीदों की याद में लाल पत्थरों से निर्मित गर्वोन्नत स्मारक खड़ा हुआ यह घोषणा कर रहा है कि आजादी के दीवानों को सत्ता की कोई भी क्रूरता परास्त नहीं कर सकती है। दस दीवानों की बलि हजारों-लाखों को जन्म देती है और एक न एक दिन वे अंततः आतताइयों का अंत कर ही देते हैं। 13 अप्रैल, 1919 के शहीदों को प्रणाम कर उदास मन, भीगी आंखों हम होटल के लिए लौट लिए थे।

टैक्सी ड्राइवर योगेश ने लेट हो जाने संबंधी मेरी हर आशंका को खारिज करते हुए दावे के साथ विश्वास दिलाया था कि वह आधे घंटा में हमें वाघा बॉर्डर पहुंचा देगा। वाघा की ओर जाने वाली सड़क साफ और चौड़ी थी। वाहनों की संख्या तुलनात्मक दृष्टि से कम थी। आसमान पर हल्के सलेटी बादलों के टुकड़े हमारे साथ दौड़ रहे थे। लाहौर पहुंचने के लिए उन्हें किसी वीजा-पासपोर्ट की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जमीन और आसमान में जो सीमा-रेखाएं देशों ने तय कर ली हैं वे उन्हें रोकने में अक्षम हैं। लाहौर, जो पैंसठ वर्ष पहले हमारी साझा संस्कृति का गढ़ था, जहां आजादी के दीवाने भगत सिंह और उनके साथियों ने आजादी के लिए कितनी ही योजनाएं बनाई थीं, पंजाब केसरी लाला लाजपत राय पर लाठियां बरसाने के कर्म को राष्ट्र की अस्मिता पर हमला मानने वाले युवा भगत सिंह ने जहां अंग्रेज अधिकारी सांडर्स गोली दागी थी। लाहौर जहां मुगल शासक जहांगीर का लगवाया शालीमार बाग था। लाहौर, जहां आज भी वह मकान है जिसमें रहते हुए उर्दू के महान कथाकार सआदत हसन मंटो ने कितना ही कालजयी साहित्य रचा और जिसमें आज भी उनकी एक बेटी और उसका परिवार रहता है।

हम ठीक चार बजकर पांच मिनट पर सीमा पर थे। रास्ते भर में सड़क के दोनों ओर लहलहाते खेतों को देखता रहा था और सोचता रहा था उन विस्थापितों के विषय में जो 1947 में अपना तमाम घर-बार छोड़, अपनों को अपनी आंखों कल्ल होते देख किसी प्रकार छिपते-छिपाते उन खेतों से होकर गुजरे होंगे। मन पुनः उदास हो उठा था।

वाहन सीमा-क्षेत्र से काफी पहले रोक दिए जाते हैं। योगेश ने वहीं उतारकर हमें वह स्थान बता दिया जहां वाघा-सीमा पर संपन्न सैनिक कार्यक्रम को देखने के बाद लौटने पर हमें मिलना था। यद्यपि काफी लोग हमारे पहुंचने से पहले ही वहां उपस्थित थे तथापि हमारे देखते-देखते वहां लगभग पचास हजार लोगों की भीड़ एकत्रित हो चुकी थी। साढ़े चार बजे सीमा पर बना गेट खुला। ऊंची नस्ल के घोड़ों पर सवार दो सैनिक लोगों का मार्ग-निर्देशन कर रहे थे। महिलाओं की अलग पंक्ति थी। लोगों में अधैर्य था। भीड़ को देखते हुए जल्दी न पहुंचने पर बैठने का सुविधाजनक स्थान मिल पाना मुश्किल था। सारी बाधाएं पार कर लोग दौड़ने लगते थे। महिलाएं और बच्चियां भी दौड़ रही थीं। सीमा पार वही दृश्य पाकिस्तान के दर्शकों का था। भारतीय दर्शकों की संख्या उनकी अपेक्षा अधिक थी यहां लोग खड़े थे, एक दूसरे को धकिया रहे थे, लेकिन वहां लोग बैठे हुए थे। इसलिए नहीं कि उधर के दर्शक अनुशासित थे बल्कि इसीलिए कि वे संख्या में बहुत कम थे। बैठने की

उतनी ही व्यवस्था उधर भी थी जितनी इधर। जितना संभव हुआ, हमने उनके भी चित्र लिए। जाहिर है कि उन्होंने भी इधर के लोगों के चित्र लिए होंगे। सीमा की व्यवस्था सीमा सुरक्षा बलों के जिम्मे है, जवान सक्रिय थे। पांच बजे कुछ युवतियों को तिरंगा पकड़ाकर दौड़कर सीमा पर गेट तक जाने ओर दौड़ते हुए ही लौट आने के लिए उन्होंने बुलाया। उन्होंने दो को बुलाया और कुछ देर में ही बाल, युवा और प्रौढ़ा स्त्रियों की लंबी पंक्ति बन गई। दौड़ समाप्त होने के बाद बड़ी संख्या में महिलाओं ने राष्ट्रभक्ति गीतों पर, जो लाउडस्पीकर पर पहले से ही लगातार बज रहे थे, गुप डांस किया। ऐसा ही पाकिस्तान की ओर लोग कर रहे थे। दोनों ओर राष्ट्रभक्ति का सागर हिलोरें लेता दिख रहा था। लोगों में गजब का उत्साह था। बी.एस.एफ. के कमांडेंट के माइक पर 'हिंदुस्तान' कहते ही 'जिंदाबाद' के नारे से दिशाएं गूंज उठती थीं। भीड़ स्वयं भी लगातार नारे लगा रही थी। वातावरण राष्ट्रप्रेम में इतना अधिक सराबोर था कि वहां उपस्थित लोग भ्रष्टाचार, मंहगाई और 'कोलगेट' के नाम से विख्यात हो चुके सरकारी घोटालों जैसे सामयिक मुद्दों को सिरे से भूल गए थे।

ठीक छः बजे बीटिंग रिट्रीट कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। राष्ट्रभक्तिपूर्ण गीतों और नारों की गूंज के बीच सीमा सुरक्षा बल की दो युवतियां गेट की ओर कदम-ताल करती हुईं गयीं और एक खास पोज में खड़ी हो गईं। भीड़ ने जोरदार नारों से उनका स्वागत किया। फिर दो जवान उसी प्रकार लंबे डग भरते हुए उधर गए। सभी एक निश्चित दूरी बनाकर खड़े हो गए। यह सिलसिला चलता रहा। छह बजकर पचीस मिनट पर दोनों ओर के गेट खुले और फिर हाथ मिलाने और ससम्मान अपने-अपने देश के झंडे उतारने का कार्यक्रम संपन्न हुआ। पुनः हाथ मिलाए गए और गेट पुनः बंद हो गए।

एक जवान आदर के साथ तह किया हुआ तिरंगा नन्हें शिशु की तरह बांहों पर लेकर वापस लौटा और अपने साथी के हवाले किया। कार्यक्रम समाप्त हुआ। योगेश हमारा इंतजार कर रहा था। उसकी टैक्सी में बैठकर हम वापस अमृतसर की ओर चल दिए। जब हम होटल पहुंचे, शाम के साढ़े सात बजने वाले थे। होटल के अपने कमरे में दाखिल होते हुए मैंने जेब से निकालकर अपना मोबाइल स्क्रीन देखा। ज्ञात हुआ कि पंजाबी व हिंदी के प्रख्यात कथाकार श्यामसुंदर 'दीप्ति' तब तक मुझे दो बार फोन कर चुके थे। सुभाष नीरव ने उन्हें सूचना दी थी कि मैं उनके शहर में हूँ। उनसे बात हुई और अगले दिन यानी 3 सितंबर को उनके घर जाकर मिलने का कार्यक्रम तय हुआ।

अगली सुबह नौ बजे श्यामसुंदर 'दीप्ति' मुझे ले जाने के लिए स्वयं होटल पहुंच गए। 'दीप्ति' पंजाबी के लब्धप्रतिष्ठ लघुकथाकार तो हैं ही उन्होंने बच्चों की मानसिकता को दृष्टिगत रखते हुए अनेक पुस्तकों की रचना की है। वह अमृतसर मेडिकल कॉलेज में प्रोफेसर हैं और मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि एम.बी.बी.एस. करने के बाद उन्होंने समाजशास्त्र और मनोविज्ञान विषयों में एम. ए. किया था। 'दीप्ति' बहुत ही सरल, मृदुभाषी और मित्रजीवी व्यक्ति हैं। उन्होंने बताया कि लगभग बीस वर्ष पहले जब वाघा बॉर्डर पर बीटिंग रिट्रीट कार्यक्रम प्रारंभ हुआ था तब प्रारंभ में पचास लोग ही बमुश्किल वहां होते थे।

अमृतसर यात्रा मेरे लिए एक अविस्मरणीय यात्रा रही, शायद इसलिए भी कि सोचने के पैंतीस वर्ष बाद ही सही, मैं वहां जा पाया था। प्राप्ति का समय के अंतराल और मानसिक-कायिक कष्टों को भुलाकर असीम सुख देती हैं, निःसंदेह।



संवाद

रचना अपनी कसौटी खुद निर्धारित करती है

विजय मोहन सिंह हमारे समय के शीर्षस्थ कथा आलोचक हैं। वे कथा आलोचना पर कई किताबें लिख चुके हैं। उनकी विश्लेषणपरक दृष्टि और आलोचना का हिंदी भाषी समाज सदैव कायल रहा है। हिंदी कथा साहित्य को केंद्र में रखकर उनसे आलोचक अध्येता कृष्ण कुमार सिंह ने एक महत्वपूर्ण संवाद किया है। विजय मोहन सिंह ने जिस तरह दो टूक अंदाज में प्रश्नों के जवाब दिए हैं उससे यह संवाद कथा साहित्य को समझने के लिए एक नई दृष्टि देता है। विजय मोहन सिंह से यह संवाद उस समय किया गया जिन दिनों वे महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में आवासीय लेखक के रूप में प्रवास कर रहे थे।

आप हिंदी के ऐसे आलोचकों में हैं जो पिछले पचास-पचपन वर्षों से लगातार सक्रिय रहे हैं। आपका अधिकांश आलोचनात्मक लेखन कथा साहित्य के संदर्भ में है लेकिन कविताओं पर भी आपने काफी अच्छा और स्तरीय लिखा है। मेरा आपसे पहला सवाल कथा साहित्य से संबंधित है। प्रेमचंद पर आपने लिखा है, 'गोदान' तथा उनके अन्य उपन्यासों पर भी लिखा है। मुझे लगता है कि आपकी आलोचना में 'गोदान' को अपेक्षित महत्व नहीं मिला है। आप मानते हैं कि 'गोदान' का महत्व साहित्यिक दृष्टि से कम ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक है। इसका क्या आधार है?

आप अपने सवाल में ही यह मानकर चल रहे हैं कि 'गोदान' को जो महत्व मिलना चाहिए वह मैंने नहीं दिया है। मैं सवाल यह करूंगा कि 'गोदान' को क्यों महत्व मिलना चाहिए? पहले से ही हम मानकर क्यों चलें कि महत्व मिलना चाहिए, कौन निर्णय करेगा और किस निकष पर करेगा कि 'गोदान' को क्या और कितना महत्व मिलना चाहिए? आप क्या समझते हैं? क्यों मिलना चाहिए?

प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से हिंदी में यथार्थवाद की नींव को पुख्ता बनाया। 'गोदान' निश्चय ही इस दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। उसने यथार्थ की भूमि का विस्तार किया, उसे मजबूती दी। क्या आप ऐसा नहीं मानते हैं?

पहली बात तो यह कि जितनी बातें आप कह रहे हैं उनका 'गोदान' की रचना से कोई संबंध नहीं है। रचना को सबसे पहले रचना होना चाहिए, वह यथार्थवाद को स्थापित करने का कोई आलोचनात्मक ग्रंथ या सिद्धांत ग्रंथ नहीं हो सकती। रचना को पहले रचना के स्तर पर ही अपने को प्रमाणित करना होगा। उसमें यथार्थ कितना है, कैसा है, क्या है, क्या नहीं है, कौन-सा यथार्थ है, ये सारे सवाल यथार्थ के बारे में कर रहे हैं, उपन्यास के बारे में नहीं। 'गोदान' रचना के स्तर पर उस श्रेणी की नहीं बन पाई है जिस श्रेणी के महान उपन्यास बनते हैं। जो कुछ मैंने कहा है वह रचना के संदर्भ में कहा है, उसका यथार्थ से कोई खास लेना-देना नहीं है। निश्चित रूप से प्रेमचंद

ने यथार्थ का चित्रण किया है। वह पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने उपन्यास को यथार्थ की भूमि पर उतारा। 'चंद्रकांता' व 'चंद्रकांता संतति' जैसे ऐयारी, जासूसी, मनोरंजनपरक उपन्यासों से अलग हटकर उन्होंने उपन्यास को यथार्थ से जोड़ा। उसमें भी देखना होगा कि उनके जो दस-बारह उपन्यास हैं उनमें से कौन किस कोटि का है। मैंने 'गोदान' की रचनात्मकता पर कुछ प्रश्न उठाए हैं। कहां उसकी रचनात्मकता क्षीण हुई है, कहां वह रचनात्मक स्तर पर उच्च कोटि की रचना बनाने में असफल हो गए हैं, कहां उन्होंने लटकों-झटकों से काम लिया है, इसके बहुत से उदाहरण मैंने दिए हैं। उन्हें यहां दोहराने की जरूरत नहीं है। उसके दुर्बल और सबल अंशों का भी जिक्र किया है मैंने। आपने पढ़ा होगा मैंने धनिया के बारे में लिखा है। उसमें चुहिया नाम की पात्र है जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। उसका भी जिक्र मैंने किया है। वह शहर में रहती है और गोबर की पड़ोसन है। जब गोबर की पत्नी मरने लगती है, उसके स्तन से दूध तक नहीं निकलता, बच्चा मर रहा है, तो वह गरीब मजदूरनी जिसके स्तन से कई साल से दूध नहीं उतरा है, वात्सल्य से भरकर बच्चे को गोद में लेती है और उसको दूध निकल आता है। इससे अधिक मार्मिक चित्रण क्या हो सकता है? यानी उसका वात्सल्य इतना सच्चा और प्रामाणिक है। वात्सल्य का अद्भुत वर्णन चुहिया के संदर्भ में प्रेमचंद ने किया है जो गोदान के महत्वपूर्ण स्थलों में से एक है। फिर, सारे दलित मिलकर मातादीन के मुंह में हड्डी डाल देते हैं कि तुम हमारी इज्जत लेते हो, हम तुम्हारा धर्म लेंगे। ये कुछ ऐसे स्थल हैं जो उपन्यास को सबल बनाते हैं। इसके साथ ही उसकी कमजोरियों का भी जिक्र किया है इसलिए मेरी दृष्टि में 'गोदान' क्या है मुझे यह बताने के लिए किसी आलोचक का नाम लेने की जरूरत नहीं है। उन बातों का जिक्र करने की जरूरत मुझे नहीं है जो आचार्य शुक्ल या नंददुलारे वाजपेयी लिख गए हैं। जब आदमी लिखता है तो अपनी दृष्टि से, अपने मानदंडों पर लिखता है। महत्व तो वह निर्धारित करेगा जो उसका मूल्यांकन करता है। दूसरा कौन बताएगा? हर आलोचक के अपने मापदंड होते हैं। मैंने अन्य आलोचकों से अलग ठोस उदाहरण देकर अपनी बात कही है।

कथा साहित्य को परखने या जांचने का आपका मुख्य मापदंड क्या है? आप किस कसौटी पर रचना को कसते हैं?

हर रचना अपनी कसौटी खुद निर्धारित करती है। बनी बनाई कसौटी के आधार पर जो समीक्षक लिखेगा वह फार्मूलाबद्ध समीक्षा ही लिखेगा। समीक्षा के बने बनाए निकष नहीं होते, होंगे तो ठस होंगे। रचनाकार बने बनाए निष्पक्ष लेकर नहीं चलता है कि हमको यही करना है, यही सिद्ध करना है। समीक्षा को भी मैं रचना ही मानता हूं। रचना पर लिखते हुए ही समीक्षा के मापदंड निर्मित होते हैं।

हर महत्वपूर्ण रचना के लिए मापदंड क्या अलग-अलग होंगे जो उसी रचना से निकलेंगे?

हर समीक्षक का मापदंड अलग-अलग नहीं होता। जब समीक्षक किसी रचना पर लिखेगा, तब रचना बताती जाएगी कि रचनात्मकता का आधार क्या होता है। धीरे-धीरे उसी प्रक्रिया में मापदंड बनते हैं। मापदंड अलग-अलग होंगे तो वहीं फार्मूलाबद्ध समीक्षा हो जाएगी। फिर तो वह एनार्किक हो जाएगी। पहले तो मुझे इन शब्दों से आपत्ति है। मापदंड, कसौटी ये कर्कश लगते हैं। कसौटी न बनी बनाई होती है न मापदंड होता है, समझ होती है। आप रचना को समझ रहे हैं कि नहीं, समझ रहे हैं तो कितना समझ रहे हैं? उसी समझ के आधार पर रचना का मूल्यांकन किया जाता है।

समीक्षक का एक दृष्टिकोण तो होता ही है। जरूरी नहीं दृष्टिकोण अलग-अलग हो जैसे कलावादी दृष्टिकोण या मार्क्सवादी दृष्टिकोण।

ये सब शब्दों का फेर है। बहरहाल मेरा दृष्टिकोण न कलावादी है न मार्क्सवादी। जब भी आप कलावादी या मार्क्सवादी कहेंगे तो फिर बने बनाए मापदंडों पर चले जाएंगे।

आप कविता, उपन्यास या कहानी का मूल्यांकन किस आधार पर करते हैं?

मैं किसी चीज का मूल्यांकन नहीं करता हूँ। सिर्फ रचना को समझने की प्रक्रिया में अपने विचारों को व्यक्त करता हूँ। आम पाठक की तरह मैं भी रचना को पढ़ता हूँ, पढ़ते व समझते हुए जो विचार मन में आते हैं वही समीक्षा है।

निराला के संदर्भ में उनकी कविताओं के आधार पर आप निष्कर्ष निकालते हैं कि निराला एक्सेंट्रिक, सिनिकल कवि हैं।

निराला सनकी थे ही। मैंने कोई नई बात तो नहीं कही है। बाद में वे पागल भी हो गए थे। यह तथ्य है। हर रचनाकार थोड़ा-बहुत सनकी होता ही है- कोई थोड़ा ज्यादा तो कोई थोड़ा कम। रचनाकार थोड़ा एबनॉर्मल होता ही है। अगर एकदम नॉर्मल होगा तो रचनाकार नहीं होगा। मैंने थोड़ा अलग ढंग से लिखा है कि निराला विषमताओं के कवि हैं। विषमताओं से मेरा अर्थ यह है कि रचना का धरातल सम और विषम होता है। किसी भी रचनाकार का ग्राफ एक क्रम में बिना विचलन के या तो ऊपर जाता है या फिर ऊपर से नीचे आता है लेकिन निराला का ग्राफ बहुत ही विषम है, ऊपर-नीचे जाता-आता रहता है। कभी इस पटरी से उस पटरी पर चला जाता है इसलिए मैं उन्हें विषमताओं का कवि मानता हूँ। निराला की रचनाओं का ग्राफ बहुत जटिल है। कभी यह ग्राफ सामान्य से भी नीचे चला जाता है तो कभी एकदम ऊपर उठ जाता है चकित करता हुआ पाठक को, आलोचक को जिसे उदात्त कहते हैं, सब्बाऊइम लेकिन निराला कभी-कभी रिडिकुलस पर भी चले आते हैं। यही चीज उन्हें एक्सेंट्रिक बनाती है।

क्या आप 'राम की शक्तिपूजा' के आरंभिक अंश की क्लिष्टता, जटिलता को निराला द्वारा अपनी रचनात्मक कमजोरी छिपाने के लिए अपनाए गए डिवाइस के रूप में देखते हैं?

जो शुरू की अठारह पंक्तियां हैं उनके बारे में नंददुलारे वाजपेयी बहुत पहले ही कह चुके हैं। वे पंक्तियां समझ में नहीं आती हैं। जिस शब्दावली में उन्हें रचा गया है उसे हिंदी का पाठक नहीं समझ सकता। वह दुरुहता व जटिलता से भी परे है- सामान्य क्या, अच्छे-खासे पढ़े-लिखे पाठक की समझ से भी परे। जो भी पढ़ेगा उसे लगेगा कि समझ में नहीं आ रही हैं पंक्तियां।

यह क्लिष्टता 'सरोजस्मृति' में बिल्कुल नहीं है लेकिन उसे भी आप एक दुर्बल कविता मानते हैं क्योंकि उसमें भावविह्वलता या कवि द्वारा अपने को धिक्कारने का भाव है।

मैंने जो शब्द इस्तेमाल किया है उसके लिए अंग्रेजी में सेल्फपिटी कहा जाता है। सभी समीक्षक सेल्फपिटी को कविता की दुर्बलता मानते हैं। कविता में जहां सेल्फ आता है वहां कविता कमजोर हो जाती है, ऐसा शुक्लजी ने भी लिखा है। आत्मभर्त्सना, आत्ममुग्धता जहां आती है वहां कविता कमजोर हो ही जाती है। यह मेरी कोई नई मान्यता नहीं है। मैंने सिर्फ वे स्थल दिखाए हैं जहां सेल्फ उभरकर आता है। जब आत्मदीनता आएगी तो वहां भाव विह्वलता होगी ही, मैंनरिज्म आएगा। ये सब चीजें मिलीजुली हैं। ये बातें सभी आलोचकों ने कही हैं। मैंने तो सिर्फ उभारा है।

हिंदी में तो सभी समीक्षक कविता के उन्हीं अंशों पर लहालोट होते हैं।

किसी और ने उनके बारे में क्या लिखा है उससे मुझे कुछ नहीं लेना-देना। न मैं उस पर कमेंट करना चाहता हूँ, न मुझे उससे कोई मतलब है। मैंने पढ़ने व समझने के क्रम में जो जाना व समझा उसे ही व्यक्त किया है।

फिर भी कोई समीक्षक यह कहकर तो नहीं बच सकता है कि मुझे किसी और से कोई मतलब नहीं है। अभी-अभी आप आचार्य शुक्ल व नंददुलारे वाजपेयी का जिक्र कर रहे थे।

मैंने यह कहा कि किसी आलोचक का कथन हमारे लिए रेलेवेंट नहीं हैं, काम का नहीं है तो हम उस पर क्यों राय व्यक्त करें? लेकिन पढ़ा हुआ तो आप नहीं भूल सकते। कुछ चीजें ऐतिहासिक क्रम में, परंपरागत क्रम में सर्व स्वीकृत होती जाती है। वे अपने आप निकष बन जाती हैं। कुछ चीजें तो आपको मानकर चलना ही होगा वरना समीक्षा भी एनार्किक हो जाएगी। मैंने उन्हीं चीजों का जिक्र किया है जो समीक्षा के स्तर पर लगभग स्वीकृत और मान्य हो चुकी हैं। भावविश्वलता न कभी कविता का गुण रही है न हो सकती है।

कसौटी की बात मैं भी उसी संदर्भ में कर रहा था। कोई तो सामान्य भावभूमि होगी बात करने के लिए।

ठीक कह रहे हैं आप वरना बातें अधर में लटकी रह जाएंगी। ये सब मान्यताएं सार्वभौमिक हैं, जैसे मनुष्य होना एक सार्वभौमिक मान्यता है। यह तो आप मानेंगे ही कि समीक्षक, पाठक या रचनाकार जो भी बातें करेगा वह रेशनल करेगा और रेशनल को ही स्वीकार करेगा। व्यापक संदर्भ में कहें तो मनुष्य का विकास इसी क्रम में हुआ है। जो चीजें आप को इरेशनल लग रही हैं उनको तो आप कंडेम करेंगे ही। इरेशनल होने का एक मतलब यह भी है कि आप अचानक भावविगलित हो रहे हैं, आत्मदीनता आप में आ रही है यानी आप रेशनल स्तर पर उसको अभिव्यक्त या स्वीकार नहीं कर रहे हैं। जब सेंटिमेंटलिटी को कंडेम करते हैं तो और कुछ नहीं सिर्फ इस कारण कि वह इरेशनल है। अधिक भाव विगलित होना इरेशनलिटी है। जो आदमी आप से हमेशा भावविश्वलता या भावुकता के स्तर पर मिलेगा उससे आप क्या बात करेंगे? उससे विचार विनिमय क्या करेंगे? वह तो रोने लगेगा।

यही दोष आपको नागार्जुन की कविता में भी दिखाई पड़ता है?

ठीक-ठीक यही दोष कैसे कहूँ मैं? निराला निराला हैं और नागार्जुन नागार्जुन। लेकिन नागार्जुन में और बहुत सी चीजें मुझे नजर आती हैं। नागार्जुन का जिक्र मैंने अपनी किताब में काका हाथरसी के संदर्भ में भी किया था जो बाद में मैंने हटा दिया। केदारजी उसे पढ़कर दुःखी हो गए थे। उन्होंने ही उसे निकलवा दिया। नागार्जुन की कमजोरियों का हाल तो यह है कि कई जगह उन्हें पढ़ते हुए लगा और मैंने लिखा भी कि वे बेहतर काका हाथरसी हैं। केदारजी इससे दुःखी और कुपित हो गए थे कि क्या कह रहे हैं। मैंने वह वाक्य हटा जरूर दिया, लेकिन मेरी ऑरिजिनल प्रतिक्रिया यही थी। कुल मिलाकर नागार्जुन की कमजोरियां वह नहीं हैं जो निराला की हैं। संक्षेप में इतना ही। बहुत विस्तार में हम लोग न जाएं फिलहाल।

अकाल पर नागार्जुन की जो कविता है वह बिंब की दृष्टि से महत्वपूर्ण कविता मानी जाती है। उस कविता के संदर्भ में एक बात मार्क की है कि उसका जो मित कथन है वह उसके सौंदर्य

को बढ़ाता है। नागार्जुन तमाम जगह पर वोकल होते हैं पर वहां भाव-बोध बहुत संश्लिष्ट है और बिंबों के सहारे अपनी बात कहते हैं लेकिन आठ पंक्तियों की उस कविता में आप केवल एक पंक्ति को ही काव्यात्मक मानते हैं- 'कौवे ने खुजलाई पांखें, कई दिनों के बाद'। सिर्फ एक पंक्ति को, बाकी को क्यों नहीं?

आप उसे अगर ध्यान से पढ़ेंगे तो उसमें जितने तथाकथित बिंब हैं, वे बिंब नहीं हैं। चाहे छिपकली की गश्त हो या चूहों की हालत शिकस्त हो, वे सारे बिंब नहीं हैं। आप पाएंगे कि 'कौवे ने खुजलाई पांखें' में कई ध्वनियां एक साथ निकलती हैं जो अन्य पंक्तियों में नहीं हैं। बाकी पंक्तियां तुकबंदी ज्यादा लगती हैं। अकाल का अंत हो चुका है, चूल्हे से धुंआ निकल चुका है। यह पंक्ति पूरी कविता को अपने में समेटे है। पूरी कविता में जितनी बातें कही गई हैं वो इस एक पंक्ति में समेट ली गई हैं। इसलिए यह अधिक काव्यात्मक या सार्थक है।

उसे आप हिंदी की एक महत्वपूर्ण कविता मानते हैं कि नहीं?

नहीं। हिंदी बहुत बड़ी चीज है यार। वह बड़ी सामान्य कविता है, कविता ही नहीं है। अगर नागार्जुन के स्तर पर मैं उस कविता को देखूं तो नागार्जुन जनता के कवि हैं। यह कविता बड़े साधारण स्तर की है और साधारण लोगों के लिए है। सहृदय को यह कविता प्रभावित नहीं करती है।

क्या सामान्य जन सहृदय नहीं होता? कबीर की कविता यदि सामान्य जन समझते हैं तो वे सहृदय नहीं हैं?

मैं काव्य शास्त्र में नहीं जाऊंगा लेकिन सहृदय के बारे में जो लिखा गया है, उसमें सामान्य जन नहीं आता है। पहली बात तो कबीर की जितनी कविताएं हैं वे सारी उत्कृष्ट नहीं हैं। जो उत्कृष्ट हैं उन्हें सामान्य जन नहीं समझते हैं। अगर आप हजारीप्रसाद द्विवेदी की किताब 'कबीर' देखेंगे तो कबीर की कविता में जो दर्शन, उलटबांसियां हैं उन्हें साधारण जन नहीं समझ सकता। मेरी समझ में आज तक यह नहीं आया कि क्या कबीर का है और क्या नहीं। कुमार गंधर्व ने जो कबीर को गाया है, अकसर वही प्रचलित हो गया है। एसेंसियल कबीर जब बनाएंगे तो पाएंगे कि कबीर भी कोई आसान कवि नहीं हैं जितना कि मान लिया गया है। रचनाकार कभी तय करके नहीं लिखता कि वह किसके लिए लिख रहा है। कबीर, तुलसी सभी के साथ यही बात है। जो तय करके लिखेगा, उसकी कविता कहीं न कहीं क्षतिग्रस्त होगी। मैं मानता हूं कि किसी न किसी स्तर पर तो कविता स्वतःस्फूर्त होती ही है। आप बहुत कांशस होकर लिखेंगे तो कविता में कृत्रिमता आ जाएगी।

कितनी दूर तक आप रोमैंटिसिज्म के साथ हैं? स्वतःस्फूर्त ...

स्वतःस्फूर्ति कोई रोमैंटिसिज्म का कॉपीराइट नहीं है। वे तो मानते हैं कि पूरी कविता ही स्वतःस्फूर्त है लेकिन मैं उस हद तक नहीं मानता। मैं मानता हूं कि यदि आप कुछ भी लिखेंगे तो उसमें एक आंतरिक प्रेरणा होगी ही होगी।

अच्छा, अब कुछ बातें कहानी के संदर्भ में- क्या आप मानते हैं कि 'उसने कहा था' आधुनिक भावबोध की पहली कहानी है?

नहीं। 'उसने कहा था' आधुनिक भाव-बोध की कहानी नहीं है।

रोमानी भाव-बोध की कहानी है?

बिलकुल।

क्या प्रेमचंद के उपन्यास और उनकी कहानियां भी रोमानी भाव-बोध की रचनाएं हैं?

नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता हूं। मैंने तो इस धारणा का खंडन किया है कि गद्य तो यथार्थ और कविता रोमैटिक लिखी जा रही थी उस युग में क्योंकि मैं मानता हूं कि एक युग का भाव-बोध एक ही होता है। वह विभाजित या खंडित नहीं होता। साहित्य ही नहीं बल्कि अन्य कला विधाओं में भी वही भाव-बोध अपने ढंग से अभिव्यक्त होता है। छायावादी युग की कविता का भाव-बोध अलग था और उसके गद्य का जहां प्रेमचंद लिख रहे थे वह बिल्कुल भिन्न था, ऐसा मैं नहीं मानता। प्रेमचंद की रचनाओं में भी वह एलीमेंट है जिसे आप सार्वभौमिक मानते हैं। मनुष्य में सहृदयता, करुणा होनी चाहिए, मानवीयता, प्रेम होना चाहिए। यह सार्वभौमिक चीज है। आप किसको अपना केंद्रीय भाव-बोध मानते हैं, फर्क इसका होता है। ये भाव-बोध की सामान्य चीजें हैं जो छायावादी कवियों में भी थीं और प्रेमचंद में भी थीं। अगर आप आगे बढ़ेंगे तो देखेंगे कि कहीं-कहीं प्रसाद प्रेमचंद से भी दस कदम आगे बढ़कर यथार्थ की अभिव्यक्ति अपने उपन्यासों में करते हैं। 'तितली', 'कंकाल' सबके संदर्भ में यह बात सही है। कई जगह प्रेमचंद अपने एप्रोच में रोमैटिक बने रह जाते हैं। रोमैटिक कहा जानेवाला रचनाकार यथार्थ की साहसपूर्ण अभिव्यक्ति कर सकता है और यथार्थवाद का सबल रचनाकार रोमैटिक एटीच्यूड में फंसकर रह सकता है। कई ऐसे स्थल हैं जहां अपनी कृतियों में प्रेमचंद रोमैटिक और प्रसाद यथार्थवादी हो गए हैं। ये चीजें घुलीमिली रहती हैं। किसी में कोई चीज मुखर होकर सामने आ जाती है और वही उसका कथन मान लिया जाता है। एक सजग पाठक समझता है कि किस लेखक की रचना में कहां रोमैटिक तत्व प्रमुखता से व्यक्त हुए हैं और कहां यथार्थ की सघन अभिव्यक्ति हुई है। ये चीजें काफी संश्लिष्ट हैं। इसीलिए मैं श्रेणी-निर्धारण के खिलाफ हूं। हिंदी समीक्षा में जहां इस तरह का वर्गीकरण किया जाता है- एक इधर, एक उधर, एक वानर, एक भालू- मैं ऐसी चीजों में विश्वास नहीं करता हूं। ऐसा होता नहीं है।

'नई कहानी' की पहली कृति 'परिदे', यह वर्गीकरण ही तो है। जाहिर है कि आप उससे सहमत नहीं होंगे।

पहली कृति की तो बात ही नहीं है। मैं ऐसा मानता नहीं हूं। ऐसा होता नहीं है। किसी आलोचक ने कुछ वर्ष पहले 'परिदे' को पहली कहानी कह दिया, कोई किसी और को पहली कहानी कह देगा। इससे पूरी बहस मूल मुद्दों से हटकर पहली कृति पर चली जाएगी। ऐसा हिंदी में होता आया है। पहली कहानी, पहला उपन्यास, पहली कविता आदि को लेकर मार-काट कर रहे हैं समीक्षक और इतिहासकार। मैं इससे बचता हूं।

1960 के दशक में आपने 'नई धारा' पत्रिका में भुवनेश्वर की कहानी 'भेड़िए' की चर्चा की थी और बताया था कि वह किस तरह से नई कहानी के दौर में लिखी गई तमाम कहानियों के बरक्स ज्यादा विकसित भाव-बोध की कहानी है।

आज भी मानता हूं। नई कहानी पचास के बाद की चीज थी। एक आदमी जो चालीस के पहले यह बात लिख चुका है तो उसे विकसित भाव-बोध की कहानी कहेंगे न। उस वक्त हिंदी में जो कहानियां लिखी जा रही थीं वे इस अर्थ में अविकसित भाव-बोध की थीं कि उनमें भावुकताग्रस्त कहानियों की भरमार थी। अविकसित भाव-बोध का वह युग था जिसमें रोमैटिसिज्म के चलते रोमैटिक व भावुकताग्रस्त कहानियां लिखी जा रही थीं जिनका वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं था।

एक दशक पहले ही वह कहानीकार 'नई कहानी' के अविकसित भाव-बोध के बरक्स विकसित भाव-बोध की कहानी लिखता है तो यही कहेंगे न। यही मानकर मैंने ऐसा कहा था।

अगर रोमानियत से भरी कहानियां उस युग में लिखी जा रही थीं तो प्रेमचंद के आखिरी दौर की तमाम यथार्थवादी कहानियों को क्या कहेंगे?

मैं नई कहानी की बात कह रहा था और संदर्भ भी 'नई कहानी' का है। प्रेमचंद की बात मैं नहीं कर रहा था। वह नई कहानी है। अपने फॉर्म, शिल्प, भाषा में वह नई कहानी थी।

'नई कहानी' के दौर में मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव की तिकड़ी ने उस आंदोलन को हथिया लिया था। क्या आपको लगता है कि इनसे ज्यादा सशक्त कहानीकार उस युग में दूर दराज के इलाकों में कहानियां लिख रहे थे जिनमें रेणु जैसे कहानीकार भी थे?

अपने को मसीहा घोषित कर देंगे तो सब लोग उन्हें मसीहा थोड़े मान लेंगे? उस दौर में 'सारिका' के अंक देखें- 'मेरा हमदम मेरा दोस्त'। ये लोग एक दूसरे का प्रचार कर रहे थे। मोहन राकेश कमलेश्वर के बारे में लिख रहे थे, कमलेश्वर मोहन राकेश और राजेंद्र यादव के बारे में। ऊंट और गधे की शादी में ये लोग एक दूसरे के गीत गा रहे थे। बाद में नामवर सिंह ने इनकी पोल खोल दी। नामवर सिंह ने 'परिदे' को पहली कहानी कहा था तो वह जानबूझकर इन लोगों को पीटने के लिए ही कहा था। पहली कहानी तो यह है, आपकी नहीं। यह तिकड़ी तो उसी वक्त पिट गई थी। बहुत जल्दी मुलम्मात छूट गया था इन लोगों का। खुद नामवरजी इनको इन्हीं के समय में लिखी जा रही कहानियों से पीट रहे थे, बल्कि साठ के बाद के कहानीकारों की चर्चा कर भी उन्हें उनकी सीमा बता रहे थे। बेहतरीन कहानियां दूरदराज में लिखी जा रही थीं जैसे- रेणु लिख रहे थे। उनकी कहानियां पूर्णिया से खिसककर पटना आईं और फिर सब जगह छा गयीं। सबको पता चल गया कि कौन कितने पानी में है। भाई, कलाई तो खुलनी ही थी, खुल गई। मैंने तो उसी दौर में लिखा कि ये सभी कभी जैनेंद्र और अज्ञेय से आगे बढ़े ही नहीं थे। इनसे ज्यादा आधुनिक भाषा तो अज्ञेय के पास है, जैनेंद्र के पास है। इसे नामवरजी उस वक्त नहीं मान रहे थे, बाद में उन्होंने माना। जैनेंद्र की कहानी 'जाह्नवी' से राजेंद्र यादव की कहानी 'जहां लक्ष्मी, कैद है' की तुलना की जाए तो यह कहानी पिछड़ जाती है। यह कहानी भावुकता ग्रस्त है। इसके शीर्षक से ही यह भाव स्पष्ट हो जाता है। उस दृष्टि से 'जाह्नवी' काफी आगे की चीज है। वह उसके शिल्प व भाव-बोध, भाषा, क्राफ्ट से पता चल जाता है। मैंने कहा था कि 'नई कहानी' कभी नई हुई ही नहीं, वह तो इन तीनों लोगों का मिसनोमर था, एक मिथ था। इन्हीं लोगों का अपना बजाया ढोल था। इनसे कहीं ज्यादा नई कहानी अज्ञेय और जैनेंद्र की है। प्रेमचंद की कहानियों में और जैनेंद्र तथा अज्ञेय की कहानियों में एक फर्क साफ नजर आता है। एक डिपार्चर तो दिखता ही है, मूल्यांकन के स्तर पर चाहे जो कहें। तो 'नई कहानी' जैसी कोई चीज थी ही नहीं। वह तो नामवरजी पहले 'नई कहानी' के प्रवक्ता बने और बाद में जब उन्होंने उसकी पोल खोली तो इन लोगों से उनकी खटक गई। पहले तो नामवरजी प्रवक्ता बनाए गए थे, बाद में वे ट्रेटर मान लिए गए। यह नामवरजी का विरोधाभास कहा जाएगा। बाद में नामवरजी ने ही लिखा कि ये तो जगह-जगह दुकान खोलकर बाट लगाए बैठे थे- नई कहानी ले लो, नई कहानी ले लो। मैंने तो उसकी जड़ ही काट दी। जब 'नई कहानी' थी ही नहीं तो उसके संदर्भ में बात क्या की जाए? अज्ञेय और जैनेंद्र के बाद उस तरह का डिपार्चर सिर्फ साठोत्तरी कहानी

में दिखाई पड़ता है। जाहिर है अपने युग की कहानी का प्रवक्ता बनकर आया मैं। बीच में नई कहानी कहीं थी नहीं। ये लोग तो सेवार आदि बकवास किस्म की घास की तरह उग आए थे।

नामवर जी 'परिदे' को लेकर लहालोट होते हैं। उसकी भाषा, लाक्षणिकता आदि को लेकर।

नामवरजी उसके प्रशंसक हैं नहीं, थे। बाद में वे उसके बहुत बड़े क्रिटिक बन गए- 'परिदे' के भी, निर्मल के भी। फिर यह तो उस समय की मांग थी। उस तिकड़ी से कहानी को बाहर निकालने के लिए। नामवरजी ने बाद में निर्मल की जितनी भर्त्सना की उतनी किसी और ने नहीं की। उनके कृतित्व की ही नहीं, व्यक्तित्व की भी। आगे जाकर उन्होंने जिसे कहते हैं 'बिलो द बेल्ट' मारा है निर्मल वर्मा को। उन्होंने यह क्यों किया? उसके साहित्यिक कारण थे। उसका जिक्र अभी अप्रासंगिक है।

नामवर सिंह आज भी मानते हैं कि निर्मल वर्मा एक मेजर कहानीकार हैं। क्या आप भी ऐसा मानते हैं?

यह तो मैं भी मानता हूँ। तो?

क्यों? एक दो कारण बताइए?

एक-दो नहीं, सौ कारण बता सकता हूँ। पहली बात यह कि जो विशेषता बड़े कथाकार की होती है वह निर्मल वर्मा में है। वह यह है कि उन्होंने अपनी एक अलग कथा भाषा बनाई। मैं मानता हूँ कि दो ही रचनाकार हिंदी कथा साहित्य में ऐसे थे जिन्होंने अपनी अलग कथा भाषा बनाई। एक छोर पर बिल्कुल आधुनिक ढंग से निर्मल वर्मा ने तो दूसरे छोर पर, दूसरे ढंग से भिन्न स्तर पर रेणु ने। यह बात कहानी के संदर्भ में ही नहीं उपन्यास के संदर्भ में भी लागू होती है। 'नई कहानी' के दौर में किसी तीसरे की कोई कथा भाषा बनी ही नहीं। उस पूरे दौर में इन्हीं दो कथाकारों ने अपनी सर्वथा निजी, पृथक् कथा भाषा- बहुत ही डिस्टिग्विस्डम, डॉमिनेंट, प्रभावशाली कथा भाषा बनाई। एक कारण तो यह है और दूसरी बात कि निर्मल वर्मा पहले ऐसे कहानीकार थे जिन्होंने कहानी को जिंदगी के बुनियादी सवालों को एक्सप्लोर करने का माध्यम बनाया। फिलॉसाफिकल, मेटाफिजिकल सवालों से टकराने वाला पहला कहानीकार कोई दिखाई देता है तो वह निर्मल वर्मा।

आप दोनों बातें एक ही साथ कह रहे हैं। एक तरफ तो जीवन के बुनियादी सवाल और दूसरी तरफ मेटाफिजिकल। क्या आप सामाजिक, आर्थिक सवालों को जीवन के बुनियादी सवाल नहीं मानते हैं?

बहुत अच्छा सवाल, कुल मिलाकर यह सवाल बुनियादी है। मैं मेटाफिजिकल चीजों को ही जीवन के बुनियादी सवाल मानता हूँ।

मेटाफिजिकल सवाल कैसे बुनियादी होगा?

वही बुनियादी सवाल है। सतह के स्तर पर बुनियादी सवाल का एक पहलू होता है और एक वह जहां वह सतह से नीचे या ऊपर जाता है। मुक्तिबोध ने 'ब्रह्मराक्षस' में और निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियों के जरिए सतह के नीचे के बुनियादी सवालों को उठाया। वे इन्हीं मेटाफिजिकल सवालों से टकराते हैं। उस समय कहानी में निर्मल के अलावा यह कोई नहीं कर रहा था। दूसरी बात यह कि सामाजिक, आर्थिक सवाल इतने आसान नहीं होते जिस तरह हमारे कहानीकार उन्हें उठाते हैं। टॉलस्टाय की 'आन्ना कारेनिना' इसलिए महान रचना है कि वह एक साथ मेटाफिजिकल और सामाजिक, आर्थिक सवाल से जूझती है। दोनों स्तरों पर एक साथ एक्सेस करते हैं टॉलस्टाय इसलिए

टॉलस्टाय हैं। वे सामाजिक, आर्थिक सवालों की जड़ों तक जाते हैं। एक तरफ वो सामंतशाही और ब्यूरोक्रेसी से टकराते और लड़ते हैं तो दूसरी तरफ उसके बियॉड जो जीवन है, जहां हमारे ऋषि-मुनि पहुंचते हैं, महान दार्शनिक पहुंचते हैं, उस स्तर तक जाते हैं। इसीलिए बड़ा रचनाकार द्रष्टा हो जाता है, ऋषि हो जाता है।

लेकिन निर्मल उस तरह बुनियादी सवालों से कहां टकराते हैं? वे तो 'अंतिम अरण्य' में चले जाते हैं।

मैं यह कहां कह रहा हूँ कि टकराते हैं? वे उठाते हैं।

क्या उनसे पहले किसी ने यह सवाल नहीं उठाया था? प्रेमचंद, जैनेंद्र, अज्ञेय किसी ने नहीं?

मेरी जानकारी में नहीं। हां, निर्मल वर्मा भी केवल उठा रहे थे लेकिन उनकी कहानियों में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, अंतर्धारा की तरह। वहां वे एकदम से ट्रांसेंड करते हैं। अब उसमें उनको सफलता नहीं मिली, यह सचाई है।

दो चार कहानियों में ही वे इस तरह के सवाल उठा भी पाए हैं।

हां, यही बात है। लेकिन उससे पता चलता है कि उनके दिमाग में कुलबुलाहट है। यह अलग बात है कि उनको शरण 'अंतिम अरण्य' में मिलती है। यही बात कहानियों पर लागू होती है जहां शरण 'कव्ये और काला पानी' में मिलती है।

क्या आप नहीं मानते कि अमूर्तता की ओर मुड़ने पर रचनात्मक लेखन की मृत्यु हो जाती है? इस तरह के लेखन में पूरी गुंजाइश है कि वह अमूर्तता की ओर मुड़ जाए।

नहीं, ऐसा नहीं होता। फिर मैं टॉलस्टाय का उदाहरण दूंगा। वे सवाल उठाते हैं और अमूर्तता की ओर नहीं मुड़ते। लेकिन निर्मल वर्मा मुड़ जाते हैं। इसलिए निर्मल वर्मा टॉलस्टाय नहीं हो सकते वैसे ही जैसे नागार्जुन निराला नहीं हो सकते।

क्या ऐसा नहीं लगता कि निर्मल जीवन से उस तरह प्रेम नहीं करते हैं जिस तरह एक रचनाकार को करना चाहिए?

यह सच है, वह जीवन से प्रेम नहीं करते। मैं अज्ञेय और निर्मल दोनों के बारे में यह बात लिख चुका हूँ।

तब मेजर कथाकार कैसे हो गए निर्मल वर्मा?

मैं निर्मल को मेजर कथाकार कहां कह रहा हूँ? कौन-सी चीज उनको दूसरे कहानीकारों से अलग करती है, यह महत्वपूर्ण है। कहानीकारों की जमात से उनको अलग करने के लिए उनकी उन विशेषताओं को रेखांकित करना जरूरी होगा और उनको थोड़ा बड़ा मानना होगा। अंतिम मूल्यांकन में वह मेजर कहानीकार नहीं हैं। अगर मुझे हिंदी के दस श्रेष्ठ कहानीकारों को चुनना हो तो मैं प्रेमचंद को भी रखूंगा और अज्ञेय तथा निर्मल वर्मा को भी।

निर्मल वर्मा के साथ कहानीकार के रूप में और किसे रखना चाहेंगे?

किसी को नहीं।

एक पाए का दूसरा कहानीकार?

पाए के तो केवल रेणु हैं लेकिन वे दूसरे छोर पर हैं। दोनों में कहीं से कोई कुलावा नहीं मिलता है। अकसर दो विरोधी चीजें एक बिंदु में मिल जाती हैं। मार्क्स भी कह गए हैं।

अगर आपको हिंदी के पांच श्रेष्ठ उपन्यासों के नाम लेने हों तो.....?

चलिए साथ ही बनाते हैं सूची। अपनी कोई स्थापना नहीं देने जा रहे हैं, आपके सहयोग से ही बनाने जा रहे हैं। बनाने का मतलब है सोचना। हमारे यहां यथार्थवादी उपन्यासों की शुरुआत ही देर से होती है। जाहिर है प्रेमचंद का 'गोदान' पहला होगा। दूसरा रखना हो तो मैं 'शेखर : एक जीवनी' को रखूंगा। तीसरा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और चौथा 'मैला आंचल' होगा। पांचवें उपन्यास के रूप में जैनेंद्र के 'त्यागपत्र' को रखना चाहूंगा।

'राग दरबारी' को नहीं रखेंगे?

'राग दरबारी' तो घटिया उपन्यास है। मैं उसे हिंदी के पचास उपन्यासों की सूची में भी नहीं रखूंगा। पता नहीं 'राग दरबारी' कहां से आ जाता है? वह तीन कौड़ी का उपन्यास है। हरिशंकर परसाई की तमाम चीजें 'राग दरबारी' से ज्यादा अच्छी हैं। वह व्यंग्यबोध बोध भी श्रीलाल शुक्ल में नहीं है जो परसाई में है। उनके पासंग के बराबर नहीं है श्रीलाल शुक्ल और उनकी सारी रचनाएं।

और अगर पांच कहानियां चुननी हों तो.....?

इस पर तो मैंने सोचा ही नहीं है। चलिए, आपके साथ सोच लेते हैं। जल्दी जल्दी एक, 'उसने कहा था', दूसरी 'कफन', तीसरी अज्ञेय की 'हिली बोन की बत्तखें', चौथी रेणु की कोई कहानी, फिर कायदे से निर्मल वर्मा की एक कहानी रखना चाहूंगा।

कौन सी? नाम बता दें।

'दूसरी दुनिया'। फिलहाल यही।

इस सूची में अमरकांत की कोई कहानी नहीं है।

नहीं। अमरकांत मेरे प्रिय कहानीकार नहीं हैं।

क्यों?

नहीं हैं तो नहीं हैं। हां, अमरकांत की एक कहानी अचानक याद आ रही है। उसको मैं जरूर रख सकता हूँ, वह है 'हत्यारे'। वह अद्भुत कहानी है। अमरकांत के पूरे कथा साहित्य में एक विचलन है। यह कहानी एकदम से उछलकर आ जाती है बीच में। उनकी बाकी कहानियों से उसका कोई संबंध नहीं है- 'दोपहर का भोजन' से, फलां से, डेमाका से कोई संबंध नहीं है। वह चौंकानेवाली कहानी है। आश्चर्य होता है कि कैसे अमरकांत लिख गए। यहां तक कि पांच कहानियों में भी उसके लिए जगह बना सकते हैं।

उसके लिए आप रेणु और निर्मल वर्मा में से किसकी कहानी को रिप्लेस कर सकते हैं?

निर्मल की कहानी को कर सकता हूँ। रेणु को नहीं कर सकता। रेणु की कहानियां क्या हैं? वे तो नगीने हैं। कोई हीरा है, कोई पन्ना है, कोई रूबी है, कोई मोती है। रेणु ने कहानियों में तो केवल नगीने ही नगीने दिए हैं। कंकड़ पत्थर दिए ही नहीं। रेणु ने बहुत ज्यादा कहानियां नहीं लिखी हैं। कुल मिलाकर पच्चीस-तीस कहानियां होंगी। उनमें पांच-सात तो अनमोल हैं इसलिए रेणु की तो बात ही छोड़िए।

यह आकस्मिक नहीं है कि आपकी सूची में रेणु के बाद के दौर के किसी कहानीकार की कोई कहानी नहीं है अपनी पीढ़ी सहित।

नहीं। रेणु के बाद के दौर में रेणु की कहानी भी नहीं है और निर्मल की कहानी भी नहीं है।

रेणु और निर्मल की नकल है। लेकिन नकल तो नकल होती है। रेणु और निर्मल के बाद कहानी का दौर कई दृष्टियों से अलग है, मतलब मार्क ऑफ डिपार्चर बहुत सारे हैं लेकिन वह ग्राफ ऊपर नहीं जा रहा है। दोनों दो अलग चीजें हैं। जैसे आधुनिकता को आप रोमैटिसिज्म से आगे की चीज मानेंगे, लेकिन जब आप पूछेंगे कि भाई कीट्स से बड़ा कवि बताओ तो मुश्किल हो जाएगी। शेक्सपीयर का युग बिल्कुल अलग था। उसके बाद बड़े-बड़े परिवर्तन आए। उस समय तो आधुनिकता कहीं थी ही नहीं लेकिन शेक्सपीयर के बराबर किस कवि को मानेंगे? इसलिए यह एकदम अलग चीज है। विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन अलग होता है, लेकिन कोई उससे ऊंचा शिखर लेकर आए तब न। क्या कालिदास, तुलसीदास के बाद कोई कवि नहीं हुआ है? किस कवि को आप इन दोनों की तुलना में रखेंगे? उसी तरह से कहानी के क्षेत्र में भाषा के स्तर पर बड़े परिवर्तन हुए लेकिन मैं उदय प्रकाश की कहानी को नहीं रख सकता हूँ निर्मल या रेणु की कहानी के समानांतर। एकाध और नाम ले सकते हैं।

जैसे शिवमूर्ति.....?

अरे नहीं, शिवमूर्ति तो औसत दर्जे का कहानीकार है। उदय प्रकाश में तो फिर भी एक वैरिएशन है। उसने अपने ढंग से अद्भुत कहानियाँ लिखी हैं। शिवमूर्ति तो बहुत सिलपट कहानीकार है। रेणु और निर्मल के बाद उस पाए का कहानीकार आया नहीं। इक्की-दुक्की कहानियों के आधार पर थोड़े ही कोई दावा किया जा सकता है? यह सारा कुछ मेलिंग पॉट में है, बनने की प्रक्रिया में है। हो सकता है अचानक कोई रेणु आ जाए, कोई निर्मल आ जाए। मार्टिन टर्नर की मशहूर किताब 'नॉवेल ऑफ फ्रांस' में फ्लावेयर की बड़ी लानत-मलामत की गई है, लेकिन वह भी नहीं बता सकता है कि 'मादाम बावेरी' जैसा कोई उपन्यास क्यों नहीं लिखा गया। उसके बाद बहुत विकास हुआ। सार्त्र आए, कामू आए लेकिन हम थोड़े ही कह सकते हैं कि 'आउट साइडर' 'मादाम बावेरी' से बड़ा उपन्यास है? वहाँ उसका स्थान वही है जो रूस में 'अन्ना कैरीनिना' का है। बल्कि मैं मानता हूँ कि 'अन्ना कैरीनिना' का मूल तत्व फ्लावेयर के 'मादाम बावेरी' से लिया गया है। टॉलस्टाय पेरिस में काफी समय तक रहे थे। उसमें भी वही होता है न। यही तो मुश्किल है, क्या-क्या, कितना-कितना सुनाएं? किसको-किसको सुनाएं? आप परंपरा की दृष्टि से देखें कि कैसे परंपरा प्रभावित करती है। उसे नकल नहीं कहें। अपनी निरंतरता में ट्रेडिशन कैसे आगे की पीढ़ी को गढ़ता चलता है, उसका साक्षात् उदाहरण तो यही है और यह चकित करने वाली बात है कि अगर 'मादाम बावेरी' नहीं लिखा गया होता तो शायद 'अन्ना कैरीनिना' भी नहीं लिखा गया होता। यानी दुनिया के महानतम उपन्यासों में से एक नहीं लिखा गया होता यदि उससे थोड़ा इन्फिरियर उपन्यास 'मादाम बावेरी' नहीं लिखा गया होता। इसी तरह से परंपरा हमको प्रभावित करती है।

प्रतिभाशाली लेखक परंपरा से ग्रहण कर उसे और अधिक चमका देता है।

जाहिर है कि टॉलस्टाय टॉलस्टाय हैं, फ्लावेयर फ्लावेयर, 'अन्ना कारेनिना' 'अन्ना कारेनिना' है और 'मादाम बावेरी' 'मादाम बावेरी' है।



आलोचना : अरुण कमल की कविताएं

इतिहास, यथार्थ और आकांक्षा का समाहार

अमिताभ राय

आदमी कहां से कहां पहुंच गया
आज ऐसी कोई बीमारी नहीं जिसकी दवा न हो
जल्दी ही ऐसी तरकीब आ रही है कि आदमी कभी मरे ही नहीं
और अगर मर भी जाए तो हू ब हू वैसा ही आदमी फिर बन जाए

सामने वाली सीट पर बैठे आदमी ने जोर की सांस ली और बोला -
हमको तो बस साफ पानी चाहिए भाई जी! (रेल की बात)

जब मानव सभ्यता 'कहां से कहां' पहुंच जाए, विकास की कल्पनातीत यात्राएं पूरी कर रही हो, जैसे में साफ पानी की चाह छोटी दिखाई देती है, परंतु है नहीं। यह विकास पर प्रश्न चिह्न है। साफ पानी को बतौर पाठक हम अभिधा में लें, चाहे मनुष्य की बहुत सारी न्यूनतम आवश्यकताओं का प्रतीक मानें- परंतु यह मानवीय त्रासदियों का भान अवश्य करवाता है। यह सामान्य कथन अरुण कमल के काव्य विवेक की खास उपलब्धि नहीं है। खास उपलब्धि है वह बेचारगी जिसके साथ यह कहा गया है कि सामने बैठा आदमी सिर्फ कहता नहीं है जोर की सांस लेकर कहता है। यह काव्य शक्ति है। ज्यों ही यह बेचारगी उभरती है त्यों ही हम खुद को इतिहास की विराट संरचना के भीतर पाते हैं- वह आदमी अपनी बेचारगी में ही इतिहास का एक तथ्य बन जाने की संभावना दिखलाने लगता है। उसकी बेचारगी सत्ताजन्य है, विभिन्न संस्थानों के कारण है। विकास और व्यवस्था परिवर्तन के तमाम दावों के समक्ष और समानांतर उसकी बेचारगी है। वह अपनी बेचारगी का कारण स्वयं नहीं है। तो इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि वह उसका निदान भी स्वयं नहीं कर सकता। विकास के नाम पर पेड़ काटे गए, कारखाने लगाए गए, उनका अनेकशः प्रदूषण प्रकृति और पर्यावरण को प्रदूषित करता है। ऐसे वाले लोग अनेक प्रकार के उपायों द्वारा प्रदूषण अथवा विकास के साथ आने वाले खतरे को भी कम कर सकते हैं परंतु साधनहीन, असंपन्न व्यक्ति वही प्रदूषित हवा, जल पीने को अभिशप्त है। अमीर, पूंजीपति वर्ग विकसित होता है, विकास के दुष्परिणाम से बच भी निकलता है पर गरीब, शोषित न विकसित होता है और न उसके दुष्परिणामों से ही बच पाता है। ऐसे में साफ पानी की आकांक्षा मानवीय सभ्यता के विकास से जुड़ा व्यवस्थागत प्रश्न बन जाता है। अब मानवीय सभ्यता का उग्र भौतिक विकास एकाएक आज तो नहीं हुआ है। विकास क्रमशः हुआ है और उसी के समानांतर शोषण भी बदस्तूर जारी है इसीलिए मूलभूत आकांक्षाएं भी इतिहास की

धारा में सदैव मौजूद रही हैं। यह अरुण की काव्य शक्ति का विकास भी है। वे इसी प्रश्न को अपने पहले काव्य संग्रह 'अपनी केवल धार' में भी पूछते हैं पर ज्यादा सपाट तरीके से -

*'जिन्हें कभी जीवन में मिला नहीं
सुख से भोजन दो जून
वे औरतें गाती हैं छप्पन व्यंजनों के गीत!'*

यहां ऊपर से देखने पर यह विस्मय लग रहा है परंतु विस्मय से ज्यादा व्यंग्य है, प्रश्न है। यह संरचना का मसला है। यह विडंबना का निर्माण करती है। औरतें जो परिवार में भोजन बनाती हैं, खिलाती हैं उन्हें सुख से दो जून भोजन नहीं मिलता है। भोजन मिलता है पर आखिर का बचा खुचा उसमें भी सुख शांति के साथ वह भोजन नहीं कर पाती अर्थात् भोजन का आस्वाद नहीं है उसके पास। विडंबना का दूसरा स्तर भी है यहां। वही औरतें जिन्हें सुख से दो जून भोजन नहीं मिला वे छप्पन व्यंजनों के गीत गाती हैं। अरुण कमल की कविता की खासियत है कि एक संरचना के भीतर वह कई संरचनाएं निर्मित करती हैं। इस कविता में आगे भी कवि कहता है जिनके बच्चों ने खल्ली नहीं ली वे माताएं पढ़े-लिखे दामादों के गीत गाते हैं। बच्चों यहां स्त्रीलिंग सूचक है क्योंकि दामादों के गीत गाए जा रहे हैं। फिर कवि कहता है कि जिन्होंने आंख भी नहीं खोले वे गा रहे हैं सूर्य महिमा के गान। इन संदर्भों में केवल स्त्रियों का ही संदर्भ लें तो भी कवि के कथ्य को आसानी से पकड़ा जा सकता है। अगर हम यहां प्रश्न रखे कि इन औरतों को भोजन क्यों नहीं मिला? हम ज्यों ही यह प्रश्न करते हैं खुद को फिर व्यवस्था के समक्ष खड़ा पाते हैं। ऊपर विकास की पूंजीवादी व्यवस्था थी तो यहां सामंती-पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। धर्म इसका अविभाज्य अंग है। जीवन से धर्म की प्रधानता भले ही चली गई हो पर धर्म इस आधुनिक जीवन से निःशेष नहीं हुआ है। और आज तो खुद पूंजीवादी व्यवस्था धर्म और उसके अनेक रूपों, विश्वासों को प्रोडक्ट में बदलकर मुनाफा कमा रही है अर्थात् धर्म की भूमिका कम होने के स्थान पर लगातार जकड़ी ही है। इस सामंती व्यवस्था में मनुष्य का, मनुष्यता का शोषण उसके आंतरिक व्यवस्थागत नियमन के कारण होता है। यह नियमन कुछ को लाभ पहुंचाने और अधिकांश को अंधकार में रखने के लिए किया गया है। पूंजीवादी विकास में भी कुछ को लाभ है बाकी सब मरणासन्न स्थितियों में है। यह व्यवस्था बनाई हुई है प्रकृतया: नहीं है। कवि पूछता है -

*'किससे मांग रही हैं वे औरतें
सोने की धाली में छप्पनों व्यंजन?
किससे मांग रही हैं माताएं
पढ़े-लिखे बेटे-दामाद?
किससे-किससे वे मांगते हैं
जीवन की ज्योति?
सूर्य से, सूर्यदेव से
सूर्य-सूर्यदेव से।*

सूर्य तो प्राकृतिक तत्व है। जैसे चंद्रमा है, आम का पेड़ है, जामुन का पेड़ है, गंगा नदी है वैसे ही सूर्य है जो अनवरत अपनी प्राकृतिक भूमिकाएं निभाता रहता है बिना इस भेद के कि जून

की प्रचंड गर्मी किसी के लिए लाभकारी है या हानिकारक। वह मात्र उगता और डूबता है, पर भेद नहीं करता। भेद का निर्माण मानव सभ्यता के विकास से जुड़ा प्रश्न है - इसका कोई प्राकृतिक अथवा आवयविक संदर्भ नहीं है। जो लोग इसका आवयविक संदर्भ खोजते हैं वे पूंजीवादी साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शोषकीय व्यवस्था का अंग होते हैं। सूर्यदेव धार्मिक अवयव है जिसकी अर्चना वंदना भय से शुरू हुई। आदिम युग में जब सूर्य ही प्रकाश का एकमात्र स्रोत था, तब सूर्य का प्रकाश मानव के लिए कितना आश्वस्त होगा यह मात्र समझा ही जा सकता है। वैसे युग में सूर्य वंदना मनुष्यों ने प्रारंभ की होगी। 'सूर्य-सूर्यदेव' का इस्तेमाल कवि ने संभवतः प्राकृतिक धार्मिक संगठन के समुच्चय के रूप में किया है। यह संगठन ही मनुष्य के शोषण का आधार बनती है। इसकी कितनी बारीक समझ अरुण कमल को है इसका परिचय इसी कविता का आखिरी बंध देता है जिसमें वे सपाट रूप से कहते हैं कि पृथ्वी जब जीवन भर घूमती रही सूर्य के चारों ओर और उसे फिर भी चैन नहीं तो सूर्य पांच चक्कर से कब सुनेगा? वह मानव की असीम क्षमताओं में विश्वास करता हुआ कहता है कि 'कोई सदेवी देव नहीं, कोई सूर्य देव नहीं/तुम्हीं से पूरी होंगी सारी इच्छाएं'। ये सपाट बयान है परंतु इसकी अभिव्यंजना सपाट नहीं है। वह दूर तक पाठकों को प्रश्न के माध्यम से झकझोरकर रख देती है। इसकी अभिव्यंजना इस कविता की आखिरी तीन पंक्तियों में पूरी तरह से घनीभूत हो गई -

*'कभी नहीं बदलीं ये छोटी इच्छाएं
हजारों वर्षों के बाद भी अतृप्त हैं इच्छाएं
आज भी सबसे बड़ी इच्छा है भरपेट अन्न।
पृथ्वी किसलिए घूमती रही तब इतने दिन?'*

शोषण और दमन का तंत्र आदि काल से अनवरत जारी है। पहली विश्लेषित कविता 'रेल की बात' में भी पानी की इच्छा व्यक्त की गई है। इस कविता में भी भरपेट अन्न को आज भी सबसे बड़ी इच्छा मानी गई है। 'आज भी' शब्द बड़ा व्यंजक है। विकास के तमाम दावों के बावजूद बहुलांश आबादी आज भी भरपेट अन्न को सबसे बड़ी इच्छा माने, यह मानव सभ्यता के विकास पर बड़ा प्रश्नचिह्न है। अरुण कमल की कविता अपनी सार्थकता इस मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में अपनी भूमिका के कारण पाती है। ऊपर की कविता 'मैं वो शंख महाशंख' में प्रकाशित हुई है जबकि 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही' 'अपनी केवल धार' (कविता संग्रह) में प्रकाशित हुई थी। दोनों संग्रहों के प्रकाशन में तकरीबन 31-32 वर्षों का अंतर है। अब एक संभावना यह व्यक्त की जा सकती है कि दोनों कविताएं एक ही समय में रची गई थीं और अलग-अलग संग्रहों में आई हैं परंतु दोनों कविताओं का शिल्प इसकी गवाही नहीं देता। 'रेल की बात' में 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही' की तुलना में ज्यादा लाक्षणिकता है। दूसरी बात जिस पर मेरा फोकस है वह बेहद महत्वपूर्ण है परंतु अत्यधिक खतरनाक है। विकास के तमाम दावों के बावजूद क्या आम इनसान की जिंदगी एक ही जगह रुकी पड़ी है? अगर भारतीय समाज में रहने वाले आम नागरिकों का विकास हुआ है तो अरुण कमल की कविता मूल्यहीन है परंतु अगर उनका विकास नहीं हुआ है तो अरुण कमल इतिहासबोध को एक खास बिंदु पर टिका देते हैं। वह बिंदु दो समानांतर विसंगतियों के कारण करुण हो जाता है। एक ओर इनसान की आकांक्षा- पानी, अन्न- है तो दूसरी ओर विकास की मंजिलों के समानांतर

शोषण। हम सब देखते हैं, जानते हैं और महसूस करते हैं कि भारतवर्ष की अधिकांश आबादी इन बुनियादी जरूरतों के लिए किस कदर संघर्ष कर रही है। विकास की बहुमंजिली इमारत चढ़ने का दावा करने वाली हमारी सभ्यता में जिन इनसानों की कोई हैसियत नहीं, विकास जिनके लिए बेमानी है, उन्हें और उनकी आकांक्षाओं को इतिहास का जीवंत तथ्य बना देने की अपनी क्षमता के कारण ही अरुण कमल हमारे युग के विशिष्टतम कवि हैं। ऐसा कवि ही लिख सकता है-

*‘पर लगा मैंने ज्यादा चाह लिया
स्वप्न भी दास हैं यथार्थ के भूल गया’*

ज्यादा चाह है, क्या है? वह है- अहाते वाले घर, मेंहदी का पेड़, कुछ फूल कुछ झाड़, एक गाय, बेत की कुर्सी संगी साथी रिश्तेदारों के साथ। ये आकांक्षाएं पूंजीवादी संस्कृति की ऐंटिक साज-सज्जा का परिणाम नहीं है। यह अभाव से उपजी आकांक्षा है। यह व्यवस्था के रूप में हमारी असफलता ही है जो विकास के तमाम दावों के बावजूद ये आकांक्षाएं बहुत बड़ी मालूम पड़ती हैं।

‘मैं वो शंख महाशंख’ की पहली कविता जनगणना में कवि कहता है :

*‘मैं वो हूँ जिसकी गिनती होने से रह गई
पूरी आबादी में जो एक कम होगा वो मैं हूँ
जिसके वास्ते किसी अदहन में डाला नहीं जाएगा चावल
जिसके नाम की रोटी नहीं पकेगी वो मैं हूँ
जब भी उनकी गिनती गलत होगी
जब भी वे हिसाब मिला नहीं पाएंगे
मैं हँसूंगा आंकड़ों के पीछे से तालिया देता
वो मैं हूँ मैं वो अंक वो शंख महाशंख।’*

लोकतांत्रिक व्यवस्था की कितनी बड़ी त्रासदी है कि जनगणना में एक व्यक्ति छूट गया है। इस पूरी कविता में दो ऐसी पंक्तियां हैं जो एक नागरिक के नाते हम पर बहुत करारी चोट करती हैं। पहली ‘मैं वो हूँ’ और दूसरी ‘जब भी वो हिसाब मिला नहीं पाएंगे’। ये दोनों ही अति निश्चितता से भरे संदर्भ हैं। ‘मैं’ जो यहां इंडिविजुअल का प्रतीक है, निश्चितरूपेण जानता है कि वह व्यवस्थागत ढांचे में नहीं है। मैं एक निश्चित पहचान का बोधक भी है परंतु यह पहचान के जीवन के किसी सकारात्मक पक्ष से उभरी पहचान नहीं है। व्यक्ति की पहचान उसके वैशिष्ट्य कार्य द्वारा होती है परंतु यहां उसकी पहचान जनगणना में गिनती न हो सकने वाले इनसान के रूप में है। समाज में न जाने कितने ऐसे इनसान होंगे जिनकी पहचान उनके अतिरिक्त और किसी को न होगी न सत्ता और न वे स्वयं इस बात को तवज्जो देते हैं कि उनकी गिनती हुई है या नहीं। उनकी गिनती का नहीं होना एक मानवीय भूल हो सकती है परंतु व्यवस्था के भूल की व्यंजना उसकी अस्तित्वहीनता है। इसी कारण अस्तित्वहीनता व्यवस्था में उसकी हैसियत के नगण्य होने से भी जुड़ा है। यहां पर मैं निश्चितरूपेण सामान्य जनता के बीच का इंडिविजुअल है। वह पूंजीवादी व्यवस्था अथवा संस्थाओं के पदानुक्रम में शीर्ष पर बैठा व्यक्ति नहीं है क्योंकि उसके नाम की रोटी नहीं पक रही है या पक पा रही है और उसके लिए अदहन में चावल भी नहीं डाला जा पा रहा है। इसका शोषण में जुड़ी पूंजीवादी संस्थाएं एक अर्थ यह भी कर सकती हैं कि इस कविता में ‘मैं’ की प्रकृति नकारा किस्म

के इनसान की है जिसकी न घर में कोई कीमत है, न समाज में न व्यवस्था में। यह व्यवस्था का एक षड्यंत्र भी है क्योंकि जिस स्वर में वह अपने होने की बात करता है उससे साफ है कि वह अस्तित्वहीन और व्यक्तित्वहीन नहीं है। मैं इतने विश्वास के साथ इसे व्यवस्था का षड्यंत्र कह रहा हूँ इसकी वजह ऊपर कथित दूसरे संदर्भ में है। व्यवस्था को पूरी गिनती का पता है तभी तो वह हिसाब मिला रही है। अगर उसे गिनती पता ही नहीं होती तो वह हिसाब कैसे मिला रही है। वह जानबूझ कर व्यक्ति को, उसके बड़े समूह को अस्तित्वहीन बनाती है अपने वर्गीय फायदे के लिए। यह पहचान का राजनैतिक सामाजिक संकट है और यह लोकतांत्रिक विश्व में कितने बड़े संकट और अंतर्विरोध को जन्म देता है इसे हम बखूबी पहचानते हैं।

भूमंडलीकृत पूंजीवादी व्यवस्था में जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से का लाभ अर्जित कर लेना चाहता है, वहां कोई साधनहीन 'निर्बल के गीत' गाए यह स्वयं ही ध्यान खीचता है। खुद पूंजीवादी व्यवस्था ने ऐसी स्थितियां पैदा की हैं कि निर्बलों, साधनहीनों की निर्बलता और साधनहीनता तक को बाजार में बेचकर मुनाफा कमा सकें। पूंजीवादी व्यवस्था यह ऐसा दिखाते हुए करती है कि वह साधनहीनों और निर्बलों की हितैषी है। ऊपर से ऐसा दिखता भी है परंतु उनकी मुस्कान, उनका उत्सवधर्मी तेवर छिपे हुए रहस्यों को खोलता है।

जो व्यक्ति पूंजीपति वर्ग की क्रूरता, भूमंडलीकृत व्यवस्था की जटिलता और उसमें आम आदमी की स्थिति को, साधनहीनों और निर्बलों की स्थिति को पहचानेगा- वह 'निर्बल के गीत' के पहले गीत की तरह भयाक्रांत हो उठेगा। रात, सन्नाटा, धुंध तीनों प्रकृतिजन्य स्थितियां हैं परंतु परिस्थितियां इतनी विपरीत हैं कि व्यक्ति भयाक्रांत हो उठेगा। वह कहता है- 'हर रात डर लगता है' क्योंकि उसे कोई भारी पत्थर दबाने लगता है। यहां रात और भारी पत्थर दोनों प्रतीकार्थात्मक इस्तेमाल हुए हैं। प्रतीकों के बीच कवि जो बिंब सृजित करता है वह बलि के लिए ले जाने का है। रात के सन्नाटे में बलि के लिए ले जाने के वक्त जो नगाड़ा बजाया जा रहा है वह कितना शोरगुल करेगा यह स्पष्ट है। 'अंधेरे में' में मुक्तिबोध सारी क्रियाओं को गुपचुप होता दिखाते हैं जबकि यहां शोर उत्पन्न किया जा रहा है। यह मात्र दो कवियों के मानसिक विवेक का अंतर नहीं है। यह पूंजीवादी व्यवस्था के व्यवहार के गुणात्मक वृद्धि का प्रतीक है। यह इन दोनों कवियों की तुलना नहीं है। बाद का कवि काव्य परम्परा में बदली हुई स्थितियों के आलोक में गुणात्मक परिवर्तन करता है। रात के सन्नाटे और धुंध की भयावहता में काव्य नायक कहता है- 'मैं जी रहा हूँ एक एक सांस गिनता/अभी अगले पल कुछ भी हो सकता है'। एक निर्बल व्यक्ति अगर इस तरह सोच रहा है तो यह एक व्यवस्था के रूप में सारे लोगों के लिए सोचनीय है। वह एक एक सांस गिनता हुआ जी रहा क्योंकि जीने के लिए आवश्यक भौतिक स्थितियां सिरे से उसके विपरीत हैं- सारी बुनियादी जरूरतों के लिए वह संघर्ष कर रहा है और लगातार हर स्तर पर हार रहा है- 'मेरी नाव डूब रही... मैं डूब रहा है'।

व्यवस्था की इस विपरीतता को और जनता के पक्ष में खड़े होने के भाव को केवल कविता में नहीं अन्यत्र भी इन्होंने दुहराया है- 'कविता निर्बलों का बल है। कविता उसका पक्ष है जिसका कोई नहीं, जो सबसे कमजोर, सबसे असहाय है, जिस पर बाकी सबका बोझ है। जीवन में जो कुछ नष्ट हो रहा है कविता उस सबकी अंतिम शरणस्थली है, अभयारण्य।' आज जीवन और समाज में इनसानियत और मानवता से ज्यादा शायद ही कोई तत्व नष्टप्राय है। कवि इसके पक्ष में, निर्बलों

के पक्ष में खड़ा होकर तलवार तो नहीं भांज रहा है पर अपनी स्निग्धता से, आत्मीयता से बिखरी मानवीयता को सहलाने का प्रयास करता है। 'उधर के चोर' कविता इसी का जीवंत प्रमाण है :

'उधर के चोर भी अजीब हैं
लूट और डकैती के अजीबो गरीब किस्से -
कहते हैं ट्रेन डकैती सात बजते बजते सम्पन्न हो जाती है
क्योंकि डकैतों को जल्दी सोने की आदत है
और चूंकि सारे मुसाफिर बिना टिकट
गरीब गुरबा मजदूर जैसे लोग ही होते हैं
इसलिए डकैत किसी से झोला किसी से अंगाछा चुनौटी
खैनी की डिबिया छिनते-झपटते
चलती गाड़ी से कूद रहड़ के खेत में गुम हो जाते हैं;
और लूट की जो घटना अभी अभी प्रकाश में आई है
उसमें बलधामी लूटेरों के एक दल ने दिनदहाड़े
एक कट्टा खेत में लगा चने का साग खोंट डाला
और लौटती में चूड़ीहार की चूड़ियां लूट ली;
लेकिन इससे भी हैरतअंगेज है चोरी की एक घटना
जो संपूर्ण क्षेत्र में आज भी चर्चा का विषय है-
कहते हैं एक चोर सेंध मार घर में घुसा
इधर उधर टो-टा किया और जब कुछ न मिला
तब चुहानी में रक्खा बासी भात और साग खा
थाल वहीं छोड़ भाग गया-
वो तो पकड़ा ही जाता यदि दबा न ली होती डकार।'

समस्या चोर नहीं हैं। समस्या तो पूरी व्यवस्था ही बन जाती है। चोर भी भूखा है और जिसके यहां वह चोरी करने गया है वे भी फटेहाल हैं। चोर की डकार उसकी भूख का प्रमाण है जैसे चोर की डकार फिर पूछ रही हो- 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही तब इतने दिन?' यह एक विकट समस्या है। किसी भी इतिहासकार को ऐसी विकट समस्या से दो-चार नहीं होना पड़ता क्योंकि इतिहासकार निःशेष संभावनाशीलता को अभिव्यक्त करता है जबकि कवि सदैव संभावनाशील होता है। अरुण कमल यहां कोई निष्कर्ष नहीं दे रहे, किसी का पक्ष भी नहीं ले रहे, किसी के पक्ष से कोई प्रश्न भी नहीं कर रहे हैं। वे बस वर्णन कर रहे हैं। उस वर्णन में कोई सूक्ति नहीं है इसीलिए इनकी कविता का कोई अंश उठाकर रख देने से हमारा काम नहीं चलता। मसलन इनकी 'सखियां' कविता देखिए:

'माथे पर जल भरी गगरी लिए
ठमक गयी अचानक वह युवती
मुश्किल से गर्दन जरा-सा घुमाई
दाया तलवा पीछे उठाया
और सखि ने झुककर
खींचा रैंगनी कांटा

और चल दीं फिर दोनों सखियां
माथे पर जल लिए ।'

इसमें दो सखियां जल भरने गई हैं। रास्ते में रैंगनी का कांटा एक को चुभता है तो दूसरी निकाल देती है और फिर रास्ते पर आगे बढ़ जाती है। इसमें क्या है? 'उधर के चोर' की तरह यहां भी विकास की समानांतर मनुष्यों की संघर्षशीलता और अभाव ही है। रैंगनी झाड़ है और इसके कांटे काफी छोटे होते हैं। अगर वह चप्पल-जूते जैसे सामान्य तत्वों को जीवन में आत्मसात कर चुकी होती तो उसे यह कांटा चुभता ही नहीं। यहां जो वर्णन है उसमें स्त्रियों की आर्थिक हालत, सामाजिक हैसियत किसी भी तत्व को रेखांकित नहीं किया गया है। इसका वर्णन करके दैनंदिन जीवन के उनके संघर्ष को, अभाव के विरुद्ध उनकी जिजीविषा को लेखक संभवतः कमतर नहीं करना चाहता है। यह उत्तर आधुनिकता की माइक्रोस्कोपी दृष्टि से अनुचित लग सकता है परंतु इनसान की, इनसानियत की गरिमा की दृष्टि से बड़ी चीज है। उत्तर आधुनिकीय विमर्श भी अपनी माइक्रोस्कोपी दृष्टि से अस्मिताओं के जो छोटे-छोटे समूह वर्णित करता है वह मनुष्य की गरिमा की तलाश ही है। कवि अपने नवीनतम संग्रह 'मैं वो शंख महाशंख' में लिखता है :

'इस चलती चक्की से छिटक जो दाना
बाहर गिरा वह फिर बाहर ही बिलखेगा
जे बचा रहा भीतर वह पिसेगा गात्र गात्र ।'

चलती चक्की को समाज का बोध मानिए, इतिहास का बोध मानिए, कुछ भी मानिए, इसमें रह रहे इनसान की नियति को यह स्पष्टतः परिलक्षित कर देता है। शोषण उसके लिए सदैव है। अगर वह व्यवस्था से बाहर रहता है तो मनोवैज्ञानिक संवेदनात्मक स्तर पर टूटेगा परंतु जिंदगी की लड़ाई यहां भी खत्म नहीं होती। अगर ऐसा होता तो सब व्यवस्था के बाहर ही भागने की कोशिश करते। अगर व्यवस्था के भीतर रहेगा तो जिंदगी जीने की जद्दोजहद करेगा। कुल मिलाकर मेरी समझ में तो यही आता है कि अरुण की कविताएं आम आदमी के संघर्ष की कविताएं हैं। हम अपने सांस्कृतिक ज्ञान से जानते हैं कि आम आदमी की जय रेगिस्तान में एक बूंद के जैसी है। फिर भी आम आदमी कभी हारता भी तो नहीं है। यह भी तो हम देखते जानते हैं। भौतिक धरातल पर वह कभी जीतता नहीं, जिंदगी जीने की कोशिश में वह कभी हारता भी नहीं है। वह बस संघर्ष करता है, संघर्ष करता-करता मर जाता है। इस आम जन के संघर्ष की अनेकशः छवियां इनकी कविता में हैं। इसी संघर्षशील जिंदगी के जद्दोजहद में लगे आम जन के जीवन के विविध रंग अरुण कमल के चिंतन का विषय है।

यह आम आदमी मोटे तौर से तीन-चार रास्ते अपनाता है- पहला जिसमें चेतना नहीं है बस वह जिए चला जा रहा है; दूसरा जो कुढ़ता रहता है पर विरोध नहीं करता; तीसरा वोकल विरोध करता है और चौथा शांत, स्थिर और अहिंसक विरोध का रास्ता अपनाता है। अरुण कमल की कविताओं में शांत, स्थिर और अहिंसक विरोध ही ज्यादा है। 'थूक' जैसी एकाध कविताओं को छोड़ दें तो कवि वोकल नहीं हुआ है। 'थूक' में वह कहता है- 'जब वह गुंडा प्राचार्य मान बहादुर सिंह को/उनके कक्ष से खीच घसीटे जा रहा था/तब हजारों विद्यार्थी जमा थे चारों तरफ/और वह गुंडा अकेला था और मान बहादुर अकेले/कामरेड सुधीर ने घटना बताते हुए कहा था/अगर सब लोग थूक देते एक

साथ/तो गुंडा वहीं डूब जाता/यही तो कहते रहे कवि मान बहादुर जीवन भर/पर कितना कम थूक है अब इस देश के कंठ में' परंतु इससे ज्यादा गर्भित विरोध वह जनगणना में करता है जहां वह ताली मारकर हँसता है। उसकी हँसी चुनौती नहीं तो और क्या है। यह चौथी स्थिति है इसलिए क्योंकि इनकी कविताओं में मनुष्य सदैव स्थितियों के मध्य रहता है। समाज निरपेक्ष कुछ नहीं, न सुख, न दुख :

*‘बस सांस रहे तब तक जानता हूँ
जीता रहूँगा
उस पेड़ की तरह जिस पर ठनका गिरा
उस कुत्ते की तरह जिसकी देह में खौरा है
उस पक्षी की तरह जिसके पंख झड़ रहे हैं
में टूटी सड़क की तरह जिंदा रहूँगा
एक सूखी नदी की तरह अगले आषाढ़ तक।’*

अगले आषाढ़ की उम्मीद ही जीवन का रस है जिसकी उम्मीद में सामान्यजन जिजीविषा को खत्म नहीं होने देता। यहां मनुष्य के आसपास की प्रकृति और उसके विभिन्न उपादानों को उसकी जिजीविषा के साथ ही देखा गया है। पेड़, कुत्ता, पक्षी, सड़क, नदी कुछ भी सामान्य, स्वस्थ कहां हैं। न वे सुंदर है, न श्लाघ्य। परंतु वे जीवित हैं। उनका जीवित होना उनके अस्तित्व का बोधक है विपरीत से विपरीत स्थिति में। वे उम्मीद में जीते हैं। अरुण कमल इस बात को जानते नहीं, मानते हैं, समझते हैं। इसीलिए अपनी जरूरतें पूरी करने में लगे व्यक्ति को, सामाजिकों को हिंकारत की नजर से नहीं देखते हैं अपितु उसका, इसके बावजूद मान रखते हैं। यह कवि के रूप में इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

अरुण कमल कवि के रूप में कहीं भी नारों की प्रस्तावना नहीं करते। वे संघर्ष की बात लिखते हैं परंतु वह भी वायवीय नहीं होता। पूंजीवाद का विरोध करते हैं क्योंकि व्यवस्था के रूप में वह शोषण, दमन करता है मनुष्यों का, मनुष्यता का। वह असमानता को प्रस्तावित करता है। कुछ लोग जिंदगी की सारी सुविधाओं को, सुखों को, पैसे के दम पर खरीद पाते हैं जबकि अधिकांश लोग जीवन को घसीटने को मजबूर होते हैं। अरुण कमल का कवि के रूप में वैशिष्ट्य यह है कि ऐसी व्यवस्था का विरोध करते हुए भी वे अपनी सहज सामान्य व्यवहारिक बुद्धि का त्याग नहीं करते। इसी कारण वे कही भी अति आदर्शवाद की वायवीयता में नहीं जाते। एक कवि के रूप में वे समझते और मानते हैं कि आज हमने जिस व्यवस्था को अपनाया है वह संचाराधारित है, विज्ञानाधारित है। भौतिक जीवन में धन की आवश्यकता सिरे से खारिज नहीं की जा सकती। ऊपर चलती चाकी वाले संदर्भ में इस तथ्य को देखा जा सकता है। ‘नए इलाके में’ में जिस नवीन पहचान खोने की बात कही गई है वह भी विकास के बरक्स ही है। घर भी चाहिए सबको परंतु उन बनते घरों से पहचान भी गुम हो रही है। ‘होटल’ कविता में देखिए :

*‘सब कुछ यही रहता
ऐसी ही थाली
ऐसी ही कटोरी, ऐसा ही गिलास*

ऐसी ही रोटी और ऐसा ही पानी;
बस थाली के एक तरफ
मां ने रख दी होती एक सुडौल हरी मिर्च
और थोड़ा-सा नमक।'

यहां होटल खुद ही पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीक चिह्न है। यह कामना क्यों है? इसकी वजह मध्यवर्गीय जीवन के विपरीत आज होटलों में संपूर्णता और चमकदमक है कि बस उसमें ममत्व नहीं है। ममत्व का स्थान पूंजी ले लेती है। इस पूंजीवादी व्यवस्था में ममत्व और अपनापन का स्थान स्वार्थ और प्रतियोगिता ले लेते हैं। भौतिक सुविधा और ममत्व तथा अपनापन का भाव अगर एक साथ विकसित हो पाता तो वह सर्वोत्तम सभ्यता होती। शायद यह कवि का यूटोपिया हो, परंतु अगर ऐसा हो तो समाज, सभ्यता का सौंदर्य, उसमें रहने वालों की दशा दिशा सब बदल जाएगी।

मानव जीवन में भाव के साथ विचार और रागात्मक संवेदना का भी विशिष्ट स्थान है। भाव और राग ही मनुष्य को विशिष्ट बनाते हैं, विराट बनाते हैं। प्रकृति के अन्य तत्वों से उसकी सत्ता पृथक् करते हैं। इनकी एक कविता 'संबंध' है। इसमें एक व्यक्ति के एक ही स्त्री से तीन संबंधों का उल्लेख है। मां बनने के बाद एक स्त्री को दूध उतर नहीं रहा है। गांव में देवर के नाते काव्य वाचक को इस कार्य में उसकी मदद करनी पड़ती है। वह करता भी है :

'तुमने हुक खोले और
गाय की बड़ी-बड़ी आंखों से मुझे देखा
मैं कांप गया
दोनों स्तन इतने कठोर कैता के फल से
और बच्चा रो रहा था एक ओर।'

यह महानता का भाव नहीं, सामान्यता का भाव है। कैता के फल सा कठोर, जो तुलना है, उपमा है, उसमें सौंदर्य भी है और मनोविकार भी। मनोविकार के कारण ही वह सामान्य रह जाता है। वह कांप जाता है और दूध के दबाव से कठोर हुए स्तनों के लिए उपमान चुनता है। यहां मात्र कर्तव्य बोध की तटस्थता नहीं, यहां एक संपृक्ति भी है। इस संपृक्ति के कारण ही कवि आखिरी बंध में कहता है :

'यह कैसा संबंध है
मैं तुम्हारा देवर तुम्हारा पति तुम्हारा पुत्र?'

फिर यहां ध्यान देने की बात है कि कोई निश्चयात्मक बोध नहीं है इसीलिए प्रश्नवाचक चिह्न है। उपर्युक्त मनोविकार तत्क्षण की उपज हो सकता है, कोई स्थायी भाव नहीं है इसी कारण संबंधों की गरिमा बची रह जाती है अन्यथा ऐसे लोग समाज में किस भाषा में नवाजे जाते हैं यह बताने की जरूरत नहीं है। दूसरी बात यह भी द्रष्टव्य है कि व्यक्ति की चेतना समाज निरपेक्ष सत्ता के रूप में नहीं है। वह सामाजिक संबंधों का समुच्चय है। उसकी सार्थकता (निरर्थकता भी) समाज के भीतर से ही निःसृत होती है। वह दूध नहीं उतरने पर जाता है तो जो सामाजिक नियम हैं उसके कारण जाता है। इसी कारण वह कहता है कि- 'नहीं कह सकता वह सुख था या शोक', यहां उत्सव, उल्लास, राग से ज्यादा व्यक्ति की सामाजिक भूमिका है, राग के क्षणिक कौंध के बावजूद। यह

भूमिका वह समाज के सदस्य के रूप में निभा रहा होता है।

कवि की कविताओं में मानव जीवन को एक चश्मे से देखने की कोशिश नहीं की गयी है। कवि के रूप में वे जीवन और जगत में जो विविधता पायी जाती है, उसका अरुण कमल सम्मान करते हैं। इसी कारण कविता में जीवन को, समाज को उसके विपन्न वर्ग के माध्यम से समझने की कोशिश करने के बावजूद वे अत्यंत कोमल और वैयक्तिक क्षणों पर आधारित कविता भी लिखते हैं। 'अनुभव' आदि कविताएं इसका प्रमाण है। यह भावगत वैविध्य है। वे मनुष्य-मनुष्य के आचरण की विभिन्नता को भी पहचानते हैं। यह दर्शन के धरातल पर विशिष्ट बात हो सकती है परंतु इससे भी विशिष्ट तथ्य यह है कि वैविध्य के बावजूद वे भी वे मनुष्यों की आंतरिक संवेदनाओं में साम्य पाते हैं-

'उतने ही अलग

उतने ही एक

जितना दो आंखें।'

अरुण कमल की कविता हमें अपनी ओर खींचती है अपने नैरेटिव के कारण। ऊपर मैंने 'उधर के चोर' कविता पूरी उद्धृत की है। इसमें इनकी कविता में पाए जाने वाले वृत्तांत को आसानी से देख सकते हैं। इस वृत्तांत के माध्यम से कवि बिंबों का निर्माण करता है। पूरी कविता गद्यात्मक विवरण से भरी है। इस वृत्तांत में सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण का ध्यान रखा गया है, स्थितियों को उसके पूरे संदर्भ में रूपायित होने दिया गया है। उपरोक्त कविता में रहड़ के खेत, छीना-झपटी की कोशिशें, आपसदारी की बातें, चोर की डकार आदि जिस परिवेश को रेखांकित करते हैं उसके बिना इनकी कविताएं बन नहीं पाती। हां इस वृत्तांत को वे इतिहास के विराट संबंधों से जोड़ते हैं। इस गठजोड़ जो बिंब उभरता है, उसमें मनुष्य अभावग्रस्त तो है पर सकर्मक है। अरुण कमल की कविता इन्हीं सकर्मक मनुष्यों की कविता है।

अरुण कमल की कविता की संवेदनात्मक सशक्तता उसके आख्यानमूलकता में है। जिस बिंब का वे सृजन करते हैं, वह नैरेटिव के माध्यम से ही होता है। इसके माध्यम से कवि एक साथ ही संश्लिष्ट भी होता है और ग्राह्यता का विस्तार भी करता है। बिंब के माध्यम कवि से अर्थ को संश्लिष्ट करता है परंतु आख्यान द्वारा विस्तार, ज्यादा मात्रा में पाठकों तक खुद के पहुंच पाने की क्षमता अर्जित करता है। वास्तव में वे बिंबों का निर्माण नैरेटिव के माध्यम से ही करते हैं। इसका मतलब ये हुआ कि बिंब सिर्फ अंदाजेबयां या संदर्भ निरपेक्ष तथ्य नहीं रह जाते हैं। विचार भी नैरेटिव के भीतरी तत्व बन जाते हैं। विचार और बिंब युक्त नैरेटिव कवि की वर्गीय स्थिति से जुड़ जाते हैं। मैंने कहा भी है कि अरुण कमल शोषित वर्ग के साथ हैं और यह तथ्य कविता की भाषा और सार्थकता से संबंधित उनके विचारों में भी देखा जा सकता है। वे लिखते हैं- 'लेकिन मैंने देखा कि इतने बड़े संसार में कविता की चिंता किसी को नहीं है। जो मैं लिखता हूं वह भी लोगों तक नहीं पहुंचता और लोग कविता पढ़ते भी नहीं। बस थोड़े से लोग हैं घूम-फिरकर जिनके बीच कविता का जिक्र है, एक ऐसे सिक्के की तरह जो बहुत पहले चलन से बाहर हो गया है।' अरुण कमल इस समझ के साथ जब आख्यान को अपनी कविता की केंद्रीय संरचना बनाते हैं तो यह काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। कवि काव्य लेखन सिर्फ लिखने के लिए नहीं करता। वह आख्यानों के इस्तेमाल के

कारण ही एक साथ ही स्रष्टा और भोक्ता दोनों की सकर्मक भूमिकाओं में आ जाता है। यह सकर्मकता ही उनमें स्रष्टा का भाव भी भरता है और विवेक भी। इसी कारण वे कह जाते हैं कि 'मैं दूसरा कोई काम कर ही नहीं सकता।' साथ ही कवि यह भी कहता है कि 'स्मृति, अनुभव और कल्पना- यानी काल के तीनों आयामों भूत, वर्तमान और भविष्य का समाहार करते हुए जो कविता बनेगी, वही मेरी आकांक्षा है।' कवि ने काल के तीनों आयामों का समाहार करने की आकांक्षा जताई है, परंतु मुझे लगता है कि इतिहास, यथार्थ और आकांक्षा का समाहार अरुण कमल की कविता का सार है। ये भूत, वर्तमान और भविष्य के समानार्थी भी हो सकते हैं। आकांक्षा विश्व को और बेहतर, रहने योग्य बनाने की, इतिहास अपनी घटनात्मकता में भूतकालिक ही होता है। मैंने ऊपर कहा इतिहास में जिन मनुष्यों की कोई हैसियत नहीं होती उन्हें इतिहास का जीवंत तथ्य बना देने की क्षमता अरुण कमल की खासियत है। ये हैसियतविहीन इनसान ही उनके काव्य के यथार्थ हैं, वर्तमान की दाह हैं।



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता का नया पता-

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

क्षेत्रीय केंद्र

ऐकतान आईए-290, सेक्टर-3

साल्ट लेक,

कोलकाता-97 (पश्चिम बंगाल)

संपर्क :

प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र

मो.-09836219078

पंजाबी साहित्य में महात्मा गांधी

जसविंदर कौर बिंद्रा

इक सोटी ते इक लंगोटी, उस दे सन हथियार

जिन्हा सदमा वैरी धतिलया, सत्त समुद्र पार

नां उस दा बापू गांधी, सच, अहिंसा, अमन-पुजारी

बिखड़े राहां दे उस पांधी, इन्हां खातिर जिंदड़ी वारी।

-गुलवंत फारिंग : बापू गांधी

महात्मा गांधी और भारतीय स्वाधीनता संग्राम दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों में से किसी एक का भी नाम लिया तो चर्चा दोनों की ही होगी। हम सभी जानते हैं कि स्वाधीनता संग्राम धीरे-धीरे बढ़ा। इसने जन-आंदोलन का रूप महात्मा गांधी के नेतृत्व में ही धारण किया। गांधीजी से पहले भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयास आरंभ हो चुके थे। विभिन्न प्रदेशों तथा क्षेत्रों में अनेक राजनीतिक लीडरों जैसे लोकमान्य तिलक, गोखले, मदन मोहन मालवीय, सुभाष चंद्र बोस आदि अनेक संग्रामी अपने-अपने ढंग से आजादी के लिए प्रयत्न कर रहे थे। मगर इसे समाज की इलीट क्लास से निकाल कर जन-जन तक पहुंचाने का श्रेय महात्मा गांधी को ही जाता है।

जन-मानस के दिलों में जगह बनाना कोई आसान कार्य नहीं है। जन-साधारण के दिल में सर्वोच्च स्थान ग्रहण करने के लिए महात्मा गांधी ने उनके दुःख-सुख को अपनाया, फिर ऐसा चमत्कार हुआ कि सारे भारत में आजादी की एक लहर चल पड़ी। अन्य जितने भी स्वतंत्रता सेनानी रहे, उनका सीधा संबंध पंजाब से नहीं रहा, जैसे महात्मा गांधी तथा जवाहर लाल नेहरू का रहा। पंजाब की लोक-लहरें जैसे जलियां वाला बाग लहर, खिलाफत आंदोलन, गुरुद्वारा सुधार, नाभा मोर्चा, जैतो मोर्चा तथा अन्य कई आंदोलनों में इन नेताओं ने बढ-चढ कर हिस्सा लिया। पंजाब में जब भी कोई लहर चली, महात्मा गांधी ने सदा पंजाबियों का हौसला बढ़ाया। 'अकाली मोर्चों' का इतिहास, के संबंध में उन ऐतिहासिक टेलीग्रामों का जिक्र करना चाहूंगी, जो जैतो मोर्चा की सफलता पर जनवरी 1922 को महात्मा गांधी ने शिरोमणि अकाली दल को भेजे तार में लिखा, 'देश की आजादी की पहली लड़ाई जीत ली गई है। मैं सिक्ख कौम को बधाई देता हूं।'

इसी प्रकार गुरुद्वारा लहर में चाबियां हासिल होने पर भेजे एक अन्य तार में गांधी ने लिखा, 'देश आजाद करवाने का नुस्खा मिल गया है। गुरुद्वारा आजाद हो गया है, मुबारक हो। अब देश भी आप ने ही आजाद करवाना है।'

पंजाब के हर शहर तथा गांव में आज भी कोई न कोई जगह इस महान नेता के नाम से जुड़ी मिल जाएगी। लोक दिलों पर राज करने वाले सर्वप्रिय तथा लोक-हितैषी नेता ही लोक मानस में

नाम और स्थान बना पाते हैं। पंजाब में जगह-जगह पर इनके नाम से भवन बने हुए हैं। अकेले चड़ीगढ़ में ही गांधी जी के नाम से दो भवन बने हुए हैं। एक सेक्टर 16 का गांधी भवन, दूसरा पंजाब विश्वविद्यालय का गांधी भवन है। इसके साथ ही एक पूरा विभाग 'गांधी स्टडीज' नाम से है। पंजाबी जन-मानस ने गांधी को वही आदर-सम्मान दिया जो उसने अपने वीर-नायकों तथा किस्सा नायकों को दिया। इस बात का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि पंजाब के लोक कवियों ने आजादी के समय कई गीत रचे जिनके केंद्र में गांधी रहे। मसलन :

*सानू दे गया खदर दा बाणा, आप गांधी कैद हो गया
बल्ले बल्ले बई घूक सुण चरखे दी
छक्के छुट्ट गए करंगिया तेरे।*

*बारां बरसी खट्टण गया सी
खट के लिआया पावे
महात्मा गांधी जी देश आजाद करावे।*

पंजाबी साहित्य में भी गांधीजी से संबंधित अनेक रचानाएं मिलती हैं। भारत-पाक विभाजन का सबसे बड़ा दंश पंजाबियों को भुगतना पड़ा, इसलिए आज तक पंजाबी साहित्य में विभाजन का विषय अग्रणी रहा है। विभिन्न साहित्यिक विधाओं उपन्यास, कहानी, नाटक तथा लेख-निबंधों आदि में जो भी रचानाएं आजादी के काल-खंड को अपने में समेटती हैं, उनमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ढंग से राजनीतिक लीडरों का जिक्र होता रहा है। जिनमें उनका बिंब कभी सकारात्मक तो कभी नकारात्मक रहा है।

भाषा विभाग पटियाला ने संपूर्ण गांधी रचनावली को पंजाबी में अनुवादित करवाया है, जो दस खंडों में है। पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला ने गांधी से संबंधित अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया है, जिनमें 'अकाली मोर्चों का इतिहास' अत्यंत चर्चित पुस्तक है। कर्तार सिंह दुग्गल, गुरमुख सिंह मुसाफिर जैसे वरिष्ठ पंजाबी साहित्यकारों ने पंजाब व पंजाबियत संबंधी लेखों में गांधी जी के सकारात्मक रूख की चर्चा की है। यहां यह बताना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि रोमा रोलां रचित विश्व प्रसिद्ध जीवनी 'महात्मा गांधी' का पंजाबी अनुवाद मैंने किया है, जो शीघ्र पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला से प्रकाशित होने वाली है। इस प्रकार पंजाबी साहित्य तथा महात्मा गांधी का संबंध अत्यंत विस्तृत और विशाल है, जिसमें सभी का जिक्र करना संभव नहीं। अलबत्ता पंजाबी काव्य के अंतर्गत गांधी जी से संबंधित कविताओं की चर्चा को अपना विषय बनाया है।

नेशनल बुक ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित महात्मा गांधी तथा जवाहर लाल नेहरू काव्य-श्रद्धांजलि में सिर्फ गांधीजी से संबंधित कविताओं की गिनती 120 है, जो 232 पन्नों तक फैली हुई है। संभव है इसके अलावा भी अनेक कविताएं रही होंगी जो इस पुस्तक में शामिल होने से रह गई होंगी। इनमें पंजाबी के प्रख्यात कवियों जैसे भाई वीर सिंह, संतोख सिंह धीर, गुरमुख सिंह मुसाफिर, मोहन सिंह, विधाता सिंह तीर, प्रीतम सिंह सफीर, अजायब कमल, हीरा सिंह दर्द जैसे नाम शामिल हैं।

इन कविताओं में गांधी के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। उन्हें युग पुरुष, राष्ट्रपिता, पतित पावन भगवान, स्वराज दिलाने वाला, अहिंसावादी, महात्मा, नमक वाला इत्यादि के रूप में चित्रित

किया गया है। साथ ही बापू, संत, गांधी महाराज, शांति का सैलाब, हिंद गगन का इंद्र, सूरज इत्यादि कहकर संबोधित किया गया है। चरखे की धूकर तथा खादी-लहर भी इन कविताओं में अछूते नहीं रहे। यहां तक कि गांधी की टोपी और लंगोटी का जिक्र भी बार-बार हुआ। उनकी गिरफ्तारी होने पर भी पंजाबी कवियों की कलम रोयी और उनकी मृत्यु ने जैसे सभी को झकझोर कर दिया। उस समय की वेदना तथा दुःख की घड़ी को भी कवियों ने शब्दों में व्यक्त किया। इस प्रकार गांधी के जीवन तथा सभी मुख्य घटनाओं को आधार बना कर अनेक रचनाएं मिलती हैं।

इस बात पर सभी सहमत हैं कि गांधी के आह्वान पर सभी भारतीय नर-नारी इकट्ठे हो, मर-मिटने के लिए निकल पड़े थे :

*कट्टे हो गए सभ नर-नारी, अमन दा राह अपनाया
हर कोई बुड्ढा बाला गबरू, बापू पिछे आया।*

(हरिदरं पतंगा : संत लंगोटी वाला)

प्यार से बापू पुकारे जाने वाले महात्मा गांधी को कवि सुदर्शन गासो इस प्रकार बयान करता है।

*बापू तेरे द्वारा लिया गया
सुपना वी बहुत वड्डा सी
वड्डे सुपने लैण वाला
उन्झां सुपनिआं तो वड्डा जरूर छुंदा है
इसेलिए तू देशवासियां दा
बापू बणिया है।*

बापू गांधी नूं याद करदिआं

चरखा आरंभ से पंजाबी संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। बेटी-बहुएं घरेलू कामकाज से फुरसत पाकर त्रिंजण में इकट्ठे बैठकर चरखा काततीं और दुःख-सुख की बातें कर, अनेक गीत गाती रही हैं। अनेक पंजाबी लोकगीतों में चरखे का जिक्र आता है, जैसे :

*नी में कत्ता प्रीतां नाल चरखा चन्नण दा
शा' वा चरखा चन्नण दा।*

मगर जब महात्मा गांधी ने चरखे को स्व-रोजगार व स्वदेशी आंदोलन से जोड़ दिया तो सिर्फ पंजाब में ही नहीं सारे भारतवर्ष में लोग चरखे और खादी तथा स्वदेशी को अपनाने लगे। चरखे को स्वराज का प्रतीक माना जाने लगा।

कवि सूरज सिंह ने चरखा को लेकर सीहरफी लिखी, यानी पूरे तीस बंद। एक नमूना देखिए!

*से साबती सिदक सबूर नठठे, छुटटे भुलिआ जदों रोजगार चरखा
बंद करदा जुलाहिंआ दे एक सिरिऔ सारे जग दे कार विहार चरखा
डुबी दस्तकारी भारी कपड़े दी, सुट चलिआ मुंह दे भार चरखा,
सूरज सिंहां अमीर गरीब तोड़ी करके आलस दे गया शिकार चरखा।*

इसके साथ मिलती कविताओं में चरखे की धूकर, चरखा गांधी दा कत्तो हिंदी भाई, ढोला मैंनू चरखा मंगा दे, चरखे थीं मिलना स्वराज, कत्त के नी चरखा भैणे आदि शीर्षक से चरखे को चलाकर, अपनी ओर से स्वाधीनता-संग्राम में हिस्सेदारी करने से संबंधित भाव और विचार मिलते हैं।

इसी प्रकार खादी या खदर से संबंधित ही करीब बीस कविताएं मिलती हैं, जिनके शीर्षक देखिए-

खदर दी झनकार, रुत आ गयी खदर पाण दी, खदर दी बरकत, खदर दा गीत, खदर ते मलमल दा झगड़ा, खदर दे कपड़े पाओ, वाहवा गांधी ने खदर दी रीत चलाई आदि से अंदाजा हो सकता है कि पंजाबी लोगों ने कैसे बढ़-चढ़ कर न सिर्फ खादी को अपनाया, बल्कि दूसरों को भी खादी पहनने के लिए प्रेरित भी किया।

रतन सिंह की पंक्तियां देखिए :

खादी दीआं कठठीयां तंदां नाल, उस पकीयां रीझां पायीआं सन
कुछ तार दिलां दे जुड गए सन, कुछ मन विच गंदों आयीआं सन।

(गांधी गाथा)

गांधीजी ने टोपी क्या पहनी, वो सभी नेताओं का 'ट्रेसकोड़' बन गई :

इस टोपी दी बरकत पिछले भारत नूं स्वराज मिले
इस टोपी दी बरकत पिछले खुशियां दा सिरताज मिले

(खुशीराम आरिफ: म. गांधी दी टोपी)

पंजाबी के वरिष्ठ कवि धनीराम चात्रिक ने लिखा है :

लंगोटी वाले बापू दी ललकार गयी असमानां तो
चुप वरती दी छाया पै गयी, चालाक सियासतदानां ते।

(महात्मा गांधी)

गांधीजी की डांडी यात्रा व नमक बनाने जैसे ऐतिहासिक प्रसंगों को भी कवियों ने शब्दों में बांधा:

औ डांडी दे राह ते तुरियां तां उहदे नाल वहीरां तुर पयीआं
उहने मैला बुकियां लोकां दा, गुलामी दी मैल वी धो दिती।

(गांधी गाथा : रतन सिंह)

गांधीजी को गोली मार देने की घटना और उनकी मृत्यु पर दुख प्रकट करते कवियों के मन रो दिए, इस संबंध में भी अनेक कविताएं मिलती हैं, जैसे : सूरज रो पिआ, कौण कहंदा है कि सूरज मर गया? गांधी जी दी मौत 'ते, गांधी जी दी मौत पुर कश्मीर दे हंझु, गांधी जी दे जाण वेले, दो हाथ हनेरे विच हिल दे आदि। कुछ पंक्तियां देखिए :

इस किस कीता बुडढ़े गांधी दा सीना
छनणी नाल गालियां
और आदमी सी कोई? कोई मनुख सी?
इह तां बलावा जो भेस धार लैण मनुख दा।

(नरिन्दरपाल सिंह : खिमां तैनु)

जिस बापू ने जीवन दित्ता, देश आजाद कराया
असां औस नूं मार गोलियां, बदला खूब चुकाया।

(गुरांदितां खन्ना : कौमी लहरां)

उपरोक्त संक्षिप्त चर्चा से ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि सभी भारतीयों के समान पंजाब

तथा पंजाबी साहित्य में महात्मा गांधी को युग पुरुष और महामानव का दर्जा ही दिया गया है, जो कभी नहीं मरते। वे अजेय और अमर रहते हैं। कृष्ण कुमार रत्न की इन पंक्तियों से इसे समाप्त करना चाहूंगी :

गांधी तां अज भी
हर भारती दे दिल' च
जीऊंदा है
गांधी तां भारत है
भारत गांधी है।

संदर्भ :

1. महात्मा गांधी एवं जवाहर लाल नेहरू को श्रद्धांजलि, संपा. धर्मपाल सिंघल/बलदेव सिंह बद्दन, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।

लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com, amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 09422386554

मीडिया

हिंदी पत्रकारिता को सींचनेवाले बांग्लाभाषी मनीषी

कृपाशंकर चौबे

कोलकाता हिंदी पत्रकारिता की ही जन्मस्थली नहीं है, वह चार दूसरी भाषाओं-उर्दू ('जाम ए जहांनुमा'), फारसी ('मिरात-उल-अखबार'), अंग्रेजी ('हिकीज बंगाल गजट आर कैलकटा जनरल एडवटाइजर') और बांग्ला पत्रकारिता ('दिग्दर्शन'/'बंगाल गजट') की जन्मस्थली भी है। हिंदी पत्रकारिता के प्रति बंगाल हर काल खंड में उदार रहा है। तथ्य है कि अनेक बांग्लाभाषियों ने अपनी हड्डियां गलाकर हिंदी पत्रकारिता की समृद्ध विरासत खड़ी की। भारतीय भाषाई प्रेस के जनक बांग्लाभाषी राजा राम मोहन राय ही थे। वे 19वीं सदी के प्रारंभ में उन भद्र बंगाली सज्जनों में थे जो अंग्रेजों के संपर्क में सबसे पहले आए। उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति जैसी पश्चिमी उदारवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की और उसे सामाजिक सुधार के संदर्भ में भारतीय परिप्रेक्ष्य में ढाला। राजा राममोहन राय ने लार्ड विलियम बेंटिक की सहायता से महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष किया और कानून बनवाकर सती प्रथा को अवैध करार दिया और इस मुद्दे पर सामाजिक नवजागरण लाने के लिए उन्होंने पत्रकारिता को माध्यम बनाया। उन्होंने हिंदी, बांग्ला, अंग्रेजी और फारसी भाषाओं की पत्रकारिता के लिए जो रचनात्मक संघर्ष किया, वह इतिहास स्वीकृत तथ्य है। उन्होंने हिंदी, बांग्ला तथा फारसी में 10 मई 1829 को साप्ताहिक 'बंगदूत' निकाला। यह साप्ताहिक 82 दिनों तक ही चल पाया किंतु उस अल्प समय में ही उसने अपनी अलग पहचान बना ली। 'बंगदूत' का 10 मई 1829 का अंक कोलकाता के बंगीय साहित्य परिषद, कोलकाता में जतन के साथ सहेजकर रखा गया है।

राजा राममोहन राय की प्रेरणा से ही गंगाधर भट्टाचार्य ने 1816 में कलकत्ता से 'बंगाल गजट' का प्रकाशन प्रारंभ किया। किसी भी भारतीय द्वारा प्रकाशित होने वाला वह पहला पत्र था। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के खिलाफ 'एशियाटिक जर्नल' के जुलाई 1819 के अंक में लेख लिखा। उन्होंने 1821 में द्विभाषी 'ब्रह्मैनिकल मैगजीन' निकाली। उसके तीन अंक ही निकले किंतु हर अंक में राममोहन राय ने लेख लिखकर धार्मिक कुरीतियों पर हल्ला बोला था। राममोहन राय की ही प्रेरणा से 4 दिसंबर 1821 को ताराचंद दत्त तथा भवानीचरण बंधोपाध्याय ने बांग्ला साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन प्रारंभ किया। राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' को सती प्रथा के खिलाफ अभियान बना डाला। 'संवाद कौमुदी' ने पारिवारिक रीति-रिवाजों तथा तीज-त्यौहारों व धार्मिक कर्मकांडों पर ज्यादा धन खर्च किए जाने का डटकर विरोध किया।

राजा राममोहन राय ने 20 अप्रैल, 1822 को कलकत्ता से ही फारसी भाषा का 'मिरात उल अखबार' निकालना शुरू किया। इसके पहले संपादकीय मंतव्य में राममोहन राय ने लिखा- 'कुछ अंग्रेज देश और विदेश के समाचार प्रकाशित करते हैं किंतु इससे केवल वे ही लोग लाभ उठा पाते हैं जो अंग्रेजी जानते हैं। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते, वे खबरों को दूसरों से पढ़वाते हैं या फिर उनसे अनजान बने रहते हैं। ऐसी दशा में मुझे फारसी में एक साप्ताहिक अखबार प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। बहुत से लोग फारसी जानते हैं, अतएव यह अखबार बहुत से लोगों तक पहुंचेगा। इस अखबार के प्रकाशन से मेरा अभिप्राय न तो धनाढ्य व्यक्तियों की न अपने मित्रों की प्रशंसा करना है और न मुझे यश और कीर्ति की अभिलाषा है। संक्षेप में इस पत्र के प्रकाशन से मेरा अभिप्राय यह है कि जनता के समक्ष ऐसी बातें प्रस्तुत की जाएं जिनसे उनके अनुभवों में वृद्धि हो, सामाजिक प्रगति हो, सरकार को जनता की स्थिति मालूम रहे और जनता को सरकार के कामकाज और नियम-कानूनों की जानकारी मिलती रहे।'¹

'मिरात उल अखबार' हर शुक्रवार को प्रकाशित होता था। इस अखबार का मूल्यांकन करते हुए कलकत्ता जर्नल ने लिखा था- 'देशी भाषाओं में प्रकाशित समाचार पत्रों में अन्य कोई पत्र इतना अच्छा नहीं निकलता जितना कि 'मिरात उल अखबार'।' यह अखबार साल भर ही निकल सका। 4 अप्रैल, 1823 को 'मिरात उल अखबार' का अंतिम अंक निकला जिसकी संपादकीय में राममोहन राय ने लिखा- 'शपथ पत्र पर विश्वास दिलाने के बाद भी जब प्रतिष्ठा को आघात लगता है और हर समय यह लाइसेंस रद्द करने का भय बना रहता है, तब दुनिया के समक्ष मुंह दिखाने लायक नहीं होता। इससे मन की शांति भी भंग होती है। स्वभावतः मनुष्य से गलती होती है। अपनी भावना को अभिव्यक्ति देते समय जिन शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है, तो उनका अपने पक्ष में अर्थ निकालकर शासन के रोष का सामना करना पड़ता है।'²

श्याम सुंदर सेन और 'समाचार सुधावर्षण'

जिस तरह हिंदी का पहला साप्ताहिक 'उदंत मार्तंड' कलकत्ता से 30 मई, 1826 को युगल किशोर शुक्ल द्वारा प्रकाशित किया गया, उसी तरह हिंदी का पहला दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' भी कलकत्ता से ही 8 जून, 1854 को निकला जिसके संपादक थे श्यामसुंदर सेन। यह अखबार हिंदी-बांग्ला भाषा सेतु बंधन का अनोखा उदाहरण था। यह हिंदी और बांग्ला दोनों में निकलता था। आरंभ के दो पृष्ठ हिंदी में और बाकी पृष्ठ बांग्ला में निकलते थे। यह अखबार रविवार को छोड़कर प्रतिदिन निकलता था। इसका आकार 18 गुणा 12 इंच था। हर पृष्ठ चार कालम में बंटा होता था। 'समाचार सुधावर्षण' का मासिक मूल्य दो रुपए, सालाना चौबीस रुपए, पेशगी सालाना बीस रुपए और छह महीने की पेशगी दस रुपए था। यह अखबार 1873 तक निकला। उस जमाने में इतने दिनों तक किसी दैनिक अखबार का निकलना ही अपने-आप में एक बड़ी बात थी। 'समाचार सुधावर्षण' की विषयवस्तु समृद्ध थी और इसकी भाषा भी अपेक्षाकृत परिष्कृत थी। 1854 से 8 जनवरी, 1956 तक पहले पृष्ठ में ही अग्रलेख छपता था। विज्ञापन बढ़ जाने के कारण अग्रलेख दूसरे, तीसरे या चौथे पृष्ठ पर छप जाया करता था। देश-विदेश के रोचक समाचारों के साथ ही युद्ध विवरण इसमें छपता था। अंग्रेजों के अनैतिक आचरण की भी बेबाक आलोचना की जाती थी।

इस अखबार के संपादक श्याम सुंदर सेन भारतीय समाचार पत्रों की आजादी के अनन्य सेनानी

थे। 1857 के सिपाही विद्रोह में मीडिया की भूमिका की जब भी चर्चा होगी तो श्यामसुंदर सेन का उल्लेख अनिवार्यतः आएगा। 'समाचार सुधावर्षण' ने लगातार ब्रिटिश सेना के अत्याचारों की खबर साहस के साथ प्रकाशित की। 26 मई, 1857 के अंक में अखबार ने लिखा- 'हाल ही में अंग्रेजों ने हमारे धर्म को नष्ट करने का प्रयास किया। अतः ईश्वर उन पर क्रुद्ध है। ऐसा आभास मिलता है कि ब्रिटिश साम्राज्य का अब अंत आ गया जब दास मालिक को जवाब देने लगता है तब समझ लो मालिक का अंत निकट है। साम्राज्य पर जब संकट पड़ा तब गवर्नर ने अनेक वायदे किए। लेकिन विद्रोही सेना का उन वायदों पर कोई विश्वास नहीं। वे युद्ध को समाप्त करने के पक्ष में नहीं। सच्ची बात तो यह है कि युद्ध में दम आ रहा है और अनेक क्षेत्रों की जनता सेना में मिल रही है।'³ 5 जून, 1857 के अंक में 'समाचार सुधावर्षण' ने लिखा कि मेरठ और दिल्ली के विद्रोह ने गवर्नर को इतना भयभीत कर दिया है कि उसने अपने सुरक्षा कर्मियों की संख्या बढ़ा दी और राजनिवास के सभी रास्तों को प्रतिदिन रात आठ बजे बंद करने का आदेश दिया। गवर्नर की दयनीयता का आलम यह है कि वह प्रतिदिन दमदम, बैरकपुर में जाकर सिपाहियों से दोनों हाथ जोड़कर कहता- 'मैं ऐसा कुछ नहीं करूंगा जिससे आपके धर्म को ठेस पहुंचे। आपका धर्म जो कहे, वही करिए, इसके लिए आपको कोई नहीं रोकेगा।' श्यामसुंदर सेन ने समाचार सुधावर्षण के 5, 9 और 10 जून 1857 के अंकों में भी विप्लवी सेना की तैयारी और प्रगति के समाचारों को प्रकाशित किया था। उन समाचारों से ब्रिटिश सरकार इतनी डर गई कि गवर्नर जनरल ने 12 जून, 1857 को श्यामसुंदर सेन पर मुकदमा चलाने का निश्चय किया।

दिल्ली के अंतिम मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर ने जब 25 अगस्त, 1857 को घोषणा पत्र जारी किया तो उसे भी श्यामसुंदर सेन ने प्रमुखता से प्रकाशित किया। वह घोषणा पत्र भारत के पहले स्वाधीनता संग्राम का विरल दस्तावेज है। उस घोषणा पत्र में बहादुर शाह जफर ने कहा था- 'खुदा ने जितनी बरकतें इनसान को अता की हैं, उसमें सबसे कीमती बरकत आजादी है। क्या वह जालिम फिरंगी जिसने धोखा देकर हमसे यह बरकत छीन ली है, हमेशा के लिए हमें उससे महरूम रखेगा? क्या खुदा की मर्जी के खिलाफ इस तरह का काम हमेशा जारी रह सकता है? नहीं, कभी नहीं, फिरंगियों ने इतने जुल्म किए हैं कि उनके गुनाहों का प्याला लबरेज हो चुका है। यहां तक कि हमारे पाक मजहब का नाश करने की नापाक ख्वाहिश भी उनमें पैदा हो गई है। क्या तुम अब भी खामोश बैठे रहोगे? खुदा यह नहीं चाहता कि तुम खामोश रहो क्योंकि खुदा ने हिंदुओं-मुसलमानों के दिलों में उन्हें मुल्क से बाहर निकालने की ख्वाहिश पैदा कर दी है और खुदा के फजल और तुम लोगों की बहादुरी के प्रताप से जल्द ही अंग्रेजों को इतनी कामिल शिकस्त मिलेगी कि हमारे इस मुल्क हिंदुस्तान में उनका जरा भी निशान न रह जाएगा। हमारी फौज में छोटे और बड़े की तमीज भुला दी जाएगी और सबके साथ बराबरी का बर्ताव किया जाएगा क्योंकि इस पाक जंग में अपने धर्म की रक्षा के लिए जितने लोग तलवार खींचेंगे, वे सब एक समान यश के भागी होंगे। वे सब भाई हैं। उनमें छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं। इसलिए मैं अपने तमाम हिंदू भाइयों से कहता हूँ-उठो और ईश्वर के बताए इस परम कर्तव्य को पूरा करने के लिए मैदान ए जंग में कूद पड़ो।'⁴

1857 में ही लार्ड केनिंग ने लेखन व मुद्रण की आजादी पर अंकुश लगाने के लिए एडम रेगुलेशन लगा दिया था। उसी के तहत समाचार सुधावर्षण पर मुकदमा चला लेकिन श्यामसुंदर सेन

ने तर्क दिया कि उस समय तक भारत का वैधानिक शासक मुगल बादशाह था और जिसे देश का शासक माना जाता हो, उसके फरमान को छापना देशद्रोह की तकनीकी परिभाषा के अंतर्गत नहीं आता। इस घटना के बाद भी श्यामसुंदर सेन जहां भी अंग्रेज सरकार का प्रतिकार हो रहा था, उसके समाचार 'समाचार सुधावर्षण' में छापते रहे।

अमृतलाल चक्रवर्ती की पत्रकारिता

अमृतलाल चक्रवर्ती (1863-1936) बांग्लाभाषी होते हुए भी हिंदी के अनन्य सेवी थे। 24 परगना के नादरा गांव में 1963 में जन्मे अमृतलाल चक्रवर्ती की प्रारंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में अपने मामा के पास काफी दिनों तक रहने और वहां स्कूल में पढ़ने के कारण हिंदी पर उनका अधिकार हो गया तो भोजपुरी पर भी। वे भोजपुरी बोल भी लेते थे। हिंदी, अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत पर भी उनका अधिकार था और बांग्ला तो खैर उनकी मातृभाषा ही थी। अमृतलाल चक्रवर्ती ने औपचारिक शिक्षा पूरी करने से पूर्व ही इलाहाबाद में प्रकाशित 'प्रयाग-समाचार' पत्र से पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। कुछ दिन कालाकांकर से प्रकाशित राजा रामपाल सिंह के पत्र 'हिंदोस्थान' में भी वे रहे। कालाकांकर में रहते हुए अमृतलाल चक्रवर्ती को शिक्षा पूरी करने का मन हुआ सो घर गए, फिर कालाकांकर नहीं लौटे। कोलकाता जाकर उन्होंने कानून की डिग्री ली, लेकिन वकालत में नहीं गए। योगेंद्रचंद्र बसु ने 1890 में जब 'हिंदी बंगवासी' निकाला तो उसके संपादन का दायित्व अमृतलाल चक्रवर्ती को सौंपा। यह अखबार डबल रायल आकार के दो बड़े पन्नों में हर हफ्ते प्रकाशित होता था। इसका वार्षिक मूल्य दो रुपए था और प्रसार संख्या दो हजार। उस जमाने में यह संख्या अपने आप में एक कीर्तिमान मानी जाती थी।

'हिंदी बंगवासी' को निकले एक साल ही हुआ था कि अंग्रेज सरकार ने 'एज आफ कांसेट बिल' पारित कर दिया। अमृतलाल चक्रवर्ती ने हिंदी बंगवासी में इसका पुरजोर विरोध किया। सरकार ने उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया। उन्हें तीन दिनों तक जेल में रहना पड़ा। इस घटना से 'हिंदी बंगवासी' की प्रसिद्धि बढ़ गई। इसकी प्रसार संख्या और बढ़ गई। अमृतलाल चक्रवर्ती दस वर्षों तक हिंदी बंगवासी के संपादक रहे। हिंदी बंगवासी ने हिंदी पत्रकारिता में कई नए प्रयोग किए। समाचारों को विषय और स्थान के अनुसार समायोजित करने की शुरुआत हिंदी बंगवासी ने ही की। तीसरे पृष्ठ का नाम होता था-कलकत्ता और मुफस्सिल। इस पृष्ठ पर कलकत्ता और आस-पास की खबरें छपी जाती थीं। इसमें समाचार भेजनेवाले का नाम भी छापा जाता था। प्रेषक अपना नाम छपने के कारण बेहद सजग रहता था। हिंदी बंगवासी ने विज्ञापन का भी नया तरीका अपनाया। कलकत्ता से बाहर जानेवाली गाड़ियों पर अखबार का पोस्टर चिपका दिया जाता था। अखबार के हर अंक में महापुरुषों की जीवनी सचित्र प्रकाशित होती थी। हर अंक में कोई न कोई कहानी भी छपती थी। अखबार अनुवाद छापने को लेकर भी उदार था। बांग्ला भाषा के महाभारत का अनुवाद हिंदी बंगवासी ने छापकर खासी लोकप्रियता बटोरी। सबसे बड़ी बात यह है कि पूरे अखबार की वर्तनी एक होती थी। अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है-'पत्रकारिता का प्राथमिक विद्यालय था हिंदी बंगवासी।' पत्रकार के लिए भाषा की एकरूपता पहली आवश्यकता है। एक शब्द जिस रूप में एक जगह लिखा गया है, उसी रूप में सर्वत्र लिखा जाना चाहिए। यह बात हिंदी बंगवासी में कुछ दिन काम करने से आ जाती थी।

अमृतलाल चक्रवर्ती ने दस साल तक संपादन करने के बाद हिंदी बंगवासी के संचालकों की नीति से असंतुष्ट होकर संपादक पद छोड़ा और श्री वेंकटेश्वर समाचार का संपादन करने लगे। उनके संपादन काल में श्री वेंकटेश्वर समाचार ने बहुत प्रसिद्धि पाई। वहां भी संपादक के काम में मालिकों के दखल के विरोध में ही श्री चक्रवर्ती को हटना पड़ा। घटना इस प्रकार है-संपादक के पास मालिक से एक मजमून पर एक आदेश प्राप्त हुआ जिसमें लिखा था-‘आज्ञा श्रीमान छापो।’ अमृतलाल चक्रवर्ती ने उसे इस टीप के साथ लौटा दिया कि पत्र का विषय और उसे छापने न छापने के संबंध में विचार किए बिना केवल आदेश के कारण वह न छपा जाएगा। अखबार के मालिक सेठ खेमराज इससे बहुत नाराज हुए। उन्होंने श्री चक्रवर्ती को संपादक पद छोड़ने को कहा, साथ ही बालमुकुंद गुप्त से संपादक बनने की प्रार्थना की। गुप्तजी ने मना करते हुए उन्हें नसीहत दी कि संपादक के काम में मालिक को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

बालमुकुंद गुप्त जब भारतमित्र के संपादक बने तो अमृतलाल चक्रवर्ती को वहां ससम्मान ले गए। अमृतलाल चक्रवर्ती 1907 से 1910 तक भारत मित्र के संपादक रहे। अमृतलाल चक्रवर्ती ने मासिक उपन्यास कुसुम, कलकत्ता समाचार, श्री सनातन धर्म, फारवर्ड, निगभागम चंद्रिका, उपन्यास तरंग और श्रीकृष्ण संदेश पत्रों में भी काम किया। अमृतलाल चक्रवर्ती ने चालीस वर्षों तक हिंदी पत्रकारिता की सेवा की। उस समय के हिंदी सेवी किन कठिनाइयों में काम करके राष्ट्रभाषा का ध्वज उठाए रहते थे, इसकी एक झलक अमृतलालजी के जीवन से मिलती है। उन्हें 1925 में वृंदावन के सोलहवें अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाया गया था। उस समय उनके पास न तो किराए के पैसे थे, न पहनने के ठीक कपड़े। बड़े आग्रह पर मतवाला संचालक महादेव प्रसाद सेठ से उन्होंने कुछ आर्थिक सहायता स्वीकार की किंतु इस शर्त पर कि वे बदले में उनका कोई काम कर देंगे।

अमृतलाल चक्रवर्ती ने कहा था-दरिद्रता मेरी चिरसंगिनी है, जिसका बड़ा लाडला है स्वाभिमान और छोटी लाडली है भावुकता। शिवपूजन सहाय द्वारा सरस्वती में लिखी गई उनकी जीवनी के मुताबिक अमृतलाल चक्रवर्ती के पास हमेशा दो धोती और दो पंजाबी कुर्ता ही होता था। ओढ़ने के लिए एक फटा-पुराना कंबल और बिछाने के लिए एक टूटी चटाई के अलावा कुछ न था। अमृतलाल चक्रवर्ती की वह कोरी भावुकता ही तो थी कि राजपूताने की आठ सौ रुपए की मिल की मैनेजरी छोड़कर चंद रुपए की अखबारनवीसी की लेकिन पत्रकारिता भी उन्होंने अपनी शर्तों पर की। समाचार पत्रों के संचालकों की स्वेच्छाचारिता को उन्होंने कभी बर्दाश्त नहीं किया और उनके जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए कि नौकरी को लात मारकर उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की। मणिमय के यशस्वी संपादक राम व्यास पांडेय ने लिखा है कि यदि अमृतलाल चक्रवर्ती राष्ट्रभाषा हिंदी को छोड़कर अपनी मातृभाषा बांग्ला में लिखते तो बंगाली उन्हें कंगाली न होने देते। चक्रवर्तीजी यदि चाहते तो वकालत के द्वारा पैसे का पहाड़ खड़ा कर लेते और एक अदद नौकरी के लिए उन्हें दर-दर न भटकना पड़ता। न पत्नी का सोने का हार बेचना पड़ता न उन्हें साग-सब्जी भी बेचनी पड़ती और गांव के लोग उन्हें कुजाति छांटने की धमकी भी न देते।⁹ अभावों में भी अमृतलाल चक्रवर्ती ने अपनी अखंड शब्द साधना को मद्धिम न पड़ने दिया।

शारदा चरण मित्र और 'देवनागर'

जस्टिस शारदा चरण मित्र (17 दिसम्बर, 1848-1917) बंगाल के ऐसे मनीषी थे जिन्होंने भारत जैसे विशाल बहुभाषा-भाषी और बहुजातीय राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने के उद्देश्य से 1905 में 'एक लिपि विस्तार परिषद' की स्थापना की थी। इस संस्था का एक मात्र उद्देश्य भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को सामान्य लिपि के रूप में प्रचलित करना था। जाहिर है कि शारदा चरण मित्र ने देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता और व्यापकता को भली भांति समझ लिया था और इसीलिए वे इसे भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि बनाना चाहते थे। एक लिपि विस्तार परिषद के लक्ष्य को आंदोलन की शक्ति देते हुए शारदा चरण मित्र ने परिषद की ओर से 1907 में 'देवनागर' नामक मासिक पत्र निकाला था जो बीच में कुछ व्यवधान के बावजूद उनके जीवन पर्यंत यानी 1917 तक निकलता रहा। 'देवनागर' के पहले संपादक यशोदानंदन अखौरी थे। इसके मुखपृष्ठ पर यह वाक्य छपा रहता था- 'भारतीय चित्र-विचित्र भाषाओं के लेखों से विभूषित एक अद्वितीय सचित्र मासिक पत्रिका।' 'देवनागर' के प्रवेशांक में उसके उद्देश्यों के बारे में इस तरह प्रकाश डाला गया, 'जगद्विख्यात भारतवर्ष ऐसे महाप्रदेश में जहां जाति-पांति, रीति-नीति, मत आदि के अनेक भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, भाव की एकता रहते भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण एक प्रांतवासियों के विचारों से दूसरे प्रांतवालों का उपकार नहीं होता। इसमें संदेह नहीं कि भाषा का मुख्य उद्देश्य अपने भावों को दूसरे पर प्रकट करना है, इससे परमार्थ ही नहीं समझना चाहिए, अर्थात् मनुष्य को अपना विचार दूसरे पर इसलिए प्रकट करना पड़ता है कि इससे दूसरे का भी लाभ हो किंतु स्वार्थ साधन के लिए भी भाषा की बड़ी आवश्यकता है। इस समय भारत में अनेक भाषाओं का प्रचार होने के कारण प्रांतिक भाषाओं से सर्वसाधारण का लाभ नहीं हो सकता। भाषाओं को शीघ्र एक कर देना तो परमावश्यक होने पर भी दुस्साध्य सा प्रतीत होता है। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है। देवनागर का व्यवहार चलाने में किसी प्रांत के निवासी का अपनी लिपि व भाषा के साथ स्नेह कम नहीं पड़ सकता। हां, यह अवश्य है कि अपने परिचित मंडल को बढ़ाना पड़ेगा। पहले इस पत्र को पढ़ने में पाठकों को बड़ी नीरसता जान पड़ेगी किंतु इस दूरदर्शिता, उपयोगिता तथा आवश्यकता का विचार कर सहृदय पाठकगण अनंत भविष्यत के गर्भ में पड़े हुए पचास वर्ष के अनंतर उत्पन्न होने के शुभ फल की आशा से इस क्षुद्र भेंट को अंगीकार करेंगे।' ⁶

देवनागर में बांग्ला, उर्दू, नेपाली, उड़ीया, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, मलयालम और पंजाबी आदि की रचनाएं देवनागरी लिपि में लिप्यंतरित होकर छपती थीं। उस पत्र में पं. रामावतार शर्मा, डा. गणेश प्रसाद, शिरोमणि अनंतवायु शास्त्री, अक्षयवट मिश्र, कोकिलेश्वर भट्टाचार्य और पांडेय लोचन प्रसाद जैसे विशिष्ट लोग लिखते थे। देवनागर में प्रकाशित रिपोर्टों से पता चलता है कि अनेक अहिंदीभाषी विद्वान खुलकर देवनागरी तथा हिंदी का पक्ष-समर्थन करने लगे थे। सोचनेवाली बात है कि शारदाचरण मित्र ने देवनागरी तथा हिंदी के पक्ष में उस काल में किस तरह अन्य प्रांतों में भी एक अनुकूल वातावरण का निर्माण किया था।

'देवनागर' का परिवेश भारत व्यापी था। गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, मोतीलाल घोष जैसे मनीषियों ने भी 'देवनागर' के प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। बाल मुकुंद गुप्त ने 'भारत

मित्र' में लेख लिखकर 'देवनागर' के प्रयास की सराहना की थी और शारदा चरण मित्र के आंदोलन के औचित्य को प्रकाशित किया था। गुप्त जी ने 'जमाना' के अप्रैल-मई 1907 के अंक में भी देवनागरी के पक्ष में लंबा लेख लिखा था। शारदा चरण मित्र को विश्वास था कि पांच वर्ष में न हो, दस वर्ष में न हो, किंतु किसी न किसी समय संपूर्ण भारतवर्ष में एक लिपि प्रचलित होगी ही और तब भारतीय भाषाएं और साहित्य एक हो जाएंगी। शारदा चरण मित्र ने कहा था- 'इस समय हमलोग अन्य प्रदेश के साहित्य में प्रायः निपट अनभिज्ञ हैं, इस समय कितने ही विद्वान बंगाली लोग तुलसीदास के भी प्रबंध नहीं पढ़ सकते। यह क्या सामान्य दुःख की बात है, महाकवि चंद के ग्रंथों की बड़े-बड़े काव्यों के साथ तुलना की जाती है, यह राजपूत लोगों का इलियड है किंतु कितने ही इसे जानते तक नहीं। इधर राजनीतिक विषय को लेकर समस्त भारतवर्ष को आलोड़ित करने की कामना तो हम करते हैं किंतु आपस की भाषाओं को समझने के लिए कोई प्रधान उपाय करने के विषय में हम लोग कुछ भी चेष्टा नहीं करते।' ⁷

'देवनागर' की दृष्टि व्यापक थी। उसकी व्यापकता का अंदाजा पत्र में चित्र-विचित्र शीर्षक से प्रकाशित टिप्पणियों को ही देखकर लगाया जा सकता है। शारदा चरण मित्र की दृष्टि केवल भारत पर नहीं थी, अपितु संपूर्ण पूर्वी एशिया पर थी। इस संदर्भ में देवनागर में प्रकाशित उनके लेख 'भारतवर्ष में बौद्ध धर्म' की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं- 'वस्तुतः समस्त प्राचीन और मध्य एशिया में अभी एक ही धर्म प्रचलित है और उसे हिंदू अथवा भारतवर्ष का धर्म कहना चाहिए। बाहर से कुछ विभिन्नता दिखने पर भी मूल और अंतःप्रकृति सबकी एक है। बौद्ध धर्म भारत का धर्मज्ञान है। बौद्ध धर्म में आस्था प्रदर्शित कर हम प्राचीन और मध्य एशिया में भी एकता स्थापित कर सकेंगे।' शारदा चरण मित्र 1904 से 1908 तक कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश रहे। देवनागरी के भारतव्यापी प्रचार-प्रसार के लिए शारदाचरण मित्र इतने कटिबद्ध थे कि 'देवनागर' को लगातार घाटे में निकालते रहे और उस घाटे की भरपाई अपने निजी कोष से भरते रहे।

रामानंद चट्टोपाध्याय और 'विशाल भारत'

बंगाल के जिन मनीषियों ने हिंदी की अप्रतिम सेवा की, उनमें एक प्रमुख नाम रामानंद चट्टोपाध्याय (1865-1943) का है। रामानंद बाबू ने घाटा सहकर भी हिंदी मासिक 'विशाल भारत' निकाला और उसके संपादकों को पूरी स्वतंत्रता दी। वैसे अंग्रेजी और बांग्ला की पत्रकारिता में भी उनका बड़ा अवदान है। रामानंद बाबू 1895 में जब कायस्थ पाठशाला इलाहाबाद में प्रिंसिपल बने तो उस कालेज से 'कायस्थ समाचार' नामक एक उर्दू पत्र प्रकाशित होता था। इसका संपादन भार रामानंद बाबू पर ही आया। उन्होंने उसका रूप ही बदल दिया, उर्दू के स्थान पर उसे अंग्रेजी का पत्र बना दिया तथा उसका उद्देश्य शिक्षा प्रचार रखा। इलाहाबाद जाने से पहले रामानंद बाबू प्रथम श्रेणी में एम.ए. करने के बाद 1887 में कलकत्ता के सिटी कॉलेज में प्राध्यापक बने थे। उसी दौरान वे केशवचंद्र सेन के संपर्क में आए और ब्रह्मसमाजी हो गए थे।

रामानंद बाबू ने 1901 में इंडियन प्रेस के चिंतामणि घोष के सहयोग से बांग्ला मासिक 'प्रवासी' निकाला। उसके कुछ समय बाद मतभेद के कारण उन्हें कायस्थ कॉलेज से इस्तीफा देकर कलकत्ता वापस आना पड़ा। बंग-भंग के समय चले आंदोलन से रामानंद बाबू खुद को अलग न रख सके। अतः 1907 में फिर इलाहाबाद आए और 'मार्डन रिव्यू' प्रकाशित करने लगे। 'मार्डन रिव्यू' की

गिनती अंग्रेजी संसार के आधे दर्जन श्रेष्ठ पत्रों में की जाती थी। कई प्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय लेखक 'माडर्न रिव्यू' में लेख लिखने में अपना गौरव मानते थे। रामानंद बाबू ने ही सबसे पहले रवींद्रनाथ टैगोर को अंग्रेजी जगत के सम्मुख प्रस्तुत किया। रवि बाबू की सबसे पहली अंग्रेजी रचना 'माडर्न रिव्यू' में ही प्रकाशित हुई। अमेरिका के पादरी जे.टी.संडरलैंड की पुस्तक 'इंडिया इन बॉण्डेज' को उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' में धारावाहिक रूप में और बाद में 'प्रवासी' प्रेस से पुस्तक रूप में प्रकाशित की। यह पुस्तक जब्त कर ली गई और रामानंद बाबू को पुस्तक के प्रकाशन के लिए दंडित होना पड़ा। सर यदुनाथ सरकार और मेजर वामनदास बसु के ऐतिहासिक शोध विषयक लेख 'माडर्न रिव्यू' में छपे। 'माडर्न रिव्यू' के कुछ अंकों ने ही देश-विदेश में अपना प्रभाव फैला लिया। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर तथा उनकी आलोचनाओं से विचलित होकर तत्कालीन सरकार ने उन्हें तुरंत उत्तर प्रदेश छोड़ने का आदेश दिया अतः वे पुनः कोलकाता वापस आ गए।

रामानंद बाबू के पत्रकार और गद्य लेखक रूप को देशव्यापी ख्याति मिली। उनकी शैली तेजयुक्त, प्रवाहपूर्ण और निर्लिप्त थी। रामानंद बाबू की तीन पुस्तकें- 'राजा राममोहन राय', 'आधुनिक भारत' तथा 'स्वशासन की ओर' भी बहुत चर्चित कृतियां रही हैं। रामानंद बाबू कुशल पत्रकार और लेखक ही नहीं, वरन् सच्चे समाज सुधारक भी थे। 1826 में राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशन्स) की बैठक में उपस्थित होने के लिए रामानंद बाबू आमंत्रित किए गए। उस बैठक में वे अपने ही खर्च से गए। सरकारी खर्च से यात्रा करना इसीलिए अस्वीकार कर दिया ताकि उनके स्पष्ट और निर्भीक विचारों पर किसी प्रकार भी आर्थिक दबाव की आंच न आने पाए। 1929 में लाहौर कांग्रेस के अवसर पर जात-पांत तोड़क मंडल के अधिवेशन का सभापतित्व उन्होंने किया।

'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' के संपादक रामानंद बाबू हिंदी की व्यापकता से भली-भांति वाकिफ थे। देश के ज्यादा से ज्यादा पाठकों तक अपने विचार पहुंचाने के लिए 1928 में उन्होंने हिंदी मासिक 'विशाल भारत' निकाला। बनारसी दास चतुर्वेदी उसके संस्थापक संपादक हुए। जनवरी 1928 में 'विशाल भारत' का प्रवेशांक निकला। 144 पृष्ठों का। साहित्य, समाज सुधार, राजनीति, इतिहास और अर्थशास्त्र पर पठनीय लेखों से सुसज्जित। प्रवेशांक में चतुर्वेदी जी ने पत्र के उद्देश्य के बारे में लिखा- 'विशाल भारत' के संचालक श्री रामानंद चट्टोपाध्याय लगभग चालीस वर्षों से पत्र-संपादन का कार्य कर रहे हैं। हिंदी जनता को उनके 'माडर्न रिव्यू' तथा 'प्रवासी' का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। जिन सिद्धांतों तथा विचारों का प्रचार आप अंग्रेजी तथा बांग्ला पत्र द्वारा करते हैं, उन्हीं को अब आप राष्ट्रभाषा हिंदी द्वारा जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं। 'विशाल भारत' की आयोजन का एक मात्र उद्देश्य यही है।⁸ बनारसी दास चतुर्वेदी के संपादन में 'विशाल भारत' जल्द की हिंदी का सर्वश्रेष्ठ मासिक बन गया। शुरू के तीन वर्षों में ही उसने साहित्यांक, प्रवासी अंक तथा कला अंक जैसे विशेषांक निकालकर अपनी धाक जमा ली।

कतिपय मामलों पर बनारसी दास चतुर्वेदी से रामानंद बाबू के मतभेद हुए किंतु कभी भी रामानंद बाबू ने बनारसी दास जी की संपादकीय स्वायत्तता में हस्तक्षेप नहीं किया। रामानंद बाबू जब सूरत में हिंदू महासभा के अध्यक्ष बने तो 'विशाल भारत' में उनकी कटु आलोचना छपी। रामानंद बाबू ने उसका उत्तर लिखकर दिया और उसे भी चतुर्वेदी जी ने छापा। 1937 में बनारसी दास चतुर्वेदी के आग्रह पर 'विशाल भारत' का संपादन करने के लिए अज्ञेय कलकत्ता आ गए। अज्ञेय 'विशाल

भारत' में डेढ़ वर्ष तक रहे पर उस अल्प अवधि में ही उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी।

अज्ञेय का भी रामानंद बाबू से विरोध हुआ। हिंदी के स्वाभिमान के सवाल पर। उस प्रसंग का विवरण खुद अज्ञेय ने 'कलकत्ते की याद' शीर्षक लेख में इस तरह दिया है- 'प्रवासी तथा मार्टन रिव्यू में रामानंद चट्टोपाध्याय की कुछ टिप्पणियां प्रकाशित हुईं जिनमें हिंदी के प्रति अवज्ञा का भाव था। इससे क्लेश तो बहुत से लोगों को हुआ, लेकिन बोला कोई नहीं क्योंकि रामानंद बाबू की ओर उनके द्वारा संपादित पत्रों की बहुत धाक थी। अपनी अनुभवहीनता में मुझे लगा कि उनके आरोपों का खंडन आवश्यक है और मैंने 'विशाल भारत' की संपादकीय टिप्पणियों में उनके तर्कों का उत्तर भी दे दिया। सप्ताह-भर बाद मुझे रामानंद बाबू का हाथ का लिखा पत्र मिला। उन्होंने मेरे तर्कों का जवाब तो दिया ही था, पत्र के अंत में उन्होंने दो बातें और लिखी थीं। एक तो उन्होंने मुझे याद दिलाया था कि वह स्वयं बंगाली होकर हिंदी का साहित्यिक पत्र निकाल रहे हैं और लगातार उस पर घाटा उठा रहे हैं। उन्होंने मुझसे पूछा था कि बहुत से हिंदीभाषी धनिक और सेठ भी तो हैं, क्या एक भी ऐसा हिंदी भाषी व्यक्ति है जो बांग्ला में पत्र निकाल रहा हो-उस पर घाटा उठाना तो दूर? दूसरे, उन्होंने मुझे स्मरण दिलाया था कि 'विशाल भारत' प्रवासी प्रेस से निकलता है जिसके मालिक वे स्वयं हैं। क्या कोई दूसरा ऐसा मालिक भी होगा जो अपने संगठन के किसी कर्मचारी को यह अधिकार दे कि वह उसी के पत्र में उसी की आलोचना करे। पत्र के उत्तर में मैंने लिखा कि 'विशाल भारत' की टिप्पणी में जो कुछ लिखा गया है, उसे मैं ठीक मानता हूँ और उनके पत्र के बाद भी मुझे कुछ बदलने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। इस बात को मैंने स्वीकार किया कि हिंदी पत्रकारिता में उन्होंने जो योगदान किया है, उसके तुल्य किसी हिंदी भाषी ने बांग्ला के लिए कुछ नहीं किया और यह भी मैंने स्वीकार किया कि 'विशाल भारत' के संपादक को उन्होंने जो स्वतंत्रता दी है, उसके लिए भी उनका सम्मान होना चाहिए। मैंने यह भी जोड़ दिया कि मेरे मन में श्रद्धा और भी अधिक होती अगर यह बात स्वयं उन्होंने मुझे न लिखी होती और दूसरे ही उसका उल्लेख करते।'⁹ इस पत्र प्रकरण के बाद अज्ञेय लिखते हैं-'मैं अपने को उतना ही स्वाधीन मानता रहा जितना पहले मानता था और जितना संपादक के नाते अपने को हमेशा रखता रहा हूँ।' संपादकीय स्वतंत्रता का जो सम्मान रामानंद बाबू करते थे, उसका यह एक उदाहरण है। 'विशाल भारत' ने जो श्रेष्ठता तथा ऊंचाई अर्जित की, उसके पीछे एक कारण यह भी था कि रामानंद बाबू संपादकीय स्वतंत्रता का पूरा सम्मान करते थे। उनकी इस भूमिका को कभी लघु करके नहीं देखा जा सकता।

चिंतामणि घोष और 'सरस्वती'

इंडियन प्रेस, प्रयाग के मालिक चिंतामणि घोष ने प्रथम सर्वश्रेष्ठ मासिक 'सरस्वती' द्वारा और हिंदी के अनेक ग्रंथों को छापकर हिंदी साहित्य की जितनी सेवा की है, उतनी सेवा हिंदी भाषा भाषी किसी प्रकाशक ने शायद ही की होगी। चिंतामणि घोष ने 1884 में इंडियन प्रेस की स्थापना की और 1899 में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रस्ताव किया कि सभा एक सचित्र मासिक पत्रिका के संपादन का भार ले जिसे वे प्रकाशित करेंगे। नागरी प्रचारिणी सभा ने इसका अनुमोदन तो कर दिया किंतु संपादन का भार लेने में अपनी असमर्थता जताई। अंत में संपादन का भार एक समिति को सौंपने पर सहमति बनी। इस समिति में बाबू श्यामसुंदर दास, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिक प्रसाद, बाबू जगन्नाथ दास और किशोरीलाल गोस्वामी सहित कुल पांच लोग। और इस तरह

‘सरस्वती’ की योजना को अंतिम रूप मिला। जनवरी 1900 में इसका प्रकाशन प्रारंभ हुआ। प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर पांच चित्र थे-सबसे ऊपर वीणावादिनी सरस्वती का चित्र था। ऊपर बाईं ओर सूरदास और दाईं ओर तुलसीदास तथा नीचे बाईं ओर राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद और बाबू हरिश्चंद्र के चित्र थे। पत्रिका के नाम के नीचे लिखा रहता था-काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित। पत्रिका के प्रकाशक चिंतामणि बाबू ने पत्रिका का नीति वक्तव्य इस तरह घोषित किया था, ‘परम कारुणिक सर्व शक्तिमान जगदीश्वर की असीम अनुकंपा ही से ऐसा अनुपम अवसर आकर प्राप्त हुआ है कि आज हम लोग हिंदी भाषा के रसिक जनों की सेवा में नए उत्साह से उत्साहित हो एक नवीन उपहार लेकर उपस्थित हुए हैं जिसका नाम सरस्वती है। इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिंदी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथार्थ पूर्ति हो तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावभरित ग्रंथराजि को प्रसव करे।’¹⁰

‘सरस्वती’ के एक साल बीतते न बीतते यह स्पष्ट हो गया कि संपादक मंडल से काम नहीं चलेगा तो जनवरी 1901 से बाबू श्यामसुंदर दास उसके संपादक हो गए। 1902 के आखिर में बाबू श्यामसुंदर दास ने आगे से संपादन करने में असमर्थता जताई और उन्होंने सरस्वती प्रेस के मालिक चिंतामणि घोष से नए संपादक के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सुझाया। चिंतामणि घोष द्विवेदीजी के महत्व से परिचित थे। उन्होंने द्विवेदी जी को आमंत्रित किया और द्विवेदीजी ने रेलवे की पौने दो सौ रुपए की स्थापित नौकरी छोड़कर इक्कीस रुपए मासिक के वेतन पर ‘सरस्वती’ के संपादन का दायित्व स्वीकार किया। द्विवेदीजी जितने बड़े कवि, निबंधकार, समीक्षक और अनुवादक थे, उतने ही श्रेष्ठ संपादक भी सिद्ध हुए। इसीलिए उस युग को द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1903 के जनवरी महीने में ‘सरस्वती’ का संपादक बनने के साथ ही उसे ज्ञान के सभी अनुशासनों का खुला मंच तो बनाया ही, यह भी सुनिश्चित किया कि प्रकाशन के पूर्व हर रचना की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शास्त्रसम्मत हो। उन्होंने भरसक कोशिश की कि पूरी पत्रिका एक ही वर्तनी में निकले।

द्विवेदीजी ने 1904 में जब नागरी प्रचारिणी सभा की खोज संबंधी रिपोर्ट की आलोचना की तो सभा ने पत्रिका के प्रकाशक चिंतामणि घोष को लिखा कि पत्रिका से सभा का अनुमोदन हटा लिया जाए। चिंतामणि घोष संपादक की स्वतंत्रता के इतने बड़े हिमायती थे कि उन्होंने द्विवेदीजी को कुछ कहने से ज्यादा बेहतर सभा से नाता तोड़ना समझा। 1905 में नागरी प्रचारिणी सभा के 12वें वार्षिक विवरण में पृष्ठ 38 पर इसका इस तरह उल्लेख किया गया है, ‘मासिक पत्रों में अब सबसे श्रेष्ठ सरस्वती है। यद्यपि कई कारणों से अब इस पत्रिका के साथ इस सभा का कोई संबंध नहीं है। सभा को दुःख है कि सरस्वती के प्रकाशक ने उसमें अपवादपूर्ण लेखों को रोकना उचित न जानकर नागरी प्रचारिणी सभा से अपना संबंध तोड़ना उचित समझा।’¹¹

भाषा-परिमार्जन के साथ ही सर्जनात्मक साहित्य की हर विधा से लेकर साहित्य समालोचना के लिए द्विवेदीजी के संपादन में ‘सरस्वती’ ने युगांतकारी भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए सिर्फ कहानी विधा को लें तो रामचंद्र शुक्ल की कहानी ‘ग्यारह वर्ष का समय’ 1903 में द्विवेदीजी के संपादन में ‘सरस्वती’ में ही छपी। बंग महिला (राजेंद्रबाला घोष) की कहानी ‘कुंभ की छोटी बहू’

‘सरस्वती’ के सितंबर 1906 के अंक में छपी। ‘सरस्वती’ में 1909 में वृंदावन लाल वर्मा की कहानी ‘राखी बंद भाई’ और 1915 में प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी ‘सौत’ और 1916 में उन्हीं की बहुचर्चित कहानी ‘पंच परमेश्वर’ छपी। 1915 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी ‘उसने कहा था’ ‘सरस्वती’ में छपी। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी ‘इंदुमती’ और ‘गुलबहार’ तथा भगवान दास की कहानी ‘प्लेग की चुड़ैल’ पहले ही ‘सरस्वती’ में छप चुकी थीं। ‘सरस्वती’ की संपादकीय टिप्पणियां और समालोचनाएं महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं लिखते थे और उनकी समालोचना की साख इतनी थी कि जिस भी किताब की वे प्रशंसा कर देते थे, उसकी प्रतियां देखते-देखते बिक जाती थीं।

साहित्य की विधाओं-कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवनी, आलोचना के समांतर समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी पत्रिका में महत्व दिया और इस तरह उसका फलक विस्तृत कर दिया। अनेक रचनाकारों को सबसे पहले द्विवेदीजी ने ही अवसर दिया और जिनकी कविता या कहानी या लेख ‘सरस्वती’ में छपते थे, वे भी चर्चा में आ जाते थे। ‘सरस्वती’ के रचनाकारों में श्याम सुंदर दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधा कृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी, संत निहाल सिंह, माधव राव सप्रे, राम नरेश त्रिपाठी, अयोध्या सिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’, मैथिली शरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल ‘स्नेही’, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’, महादेवी वर्मा, रायकृष्ण दास, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’, रामधारी सिंह ‘दिनकर’ जैसे साहित्यकार शामिल थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दिसंबर 1920 में ‘सरस्वती’ से विदा ली। उनका अंतिम संपादकीय ‘संपादक की विदाई’ शीर्षक से जनवरी 1921 की ‘सरस्वती’ में छपा। उसमें द्विवेदीजी ने लिखा, ‘सरस्वती को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था, उस समय हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य की क्या दशा थी, यह बात लोगों से छिपी नहीं है। जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। ‘सरस्वती’ के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन शैली आदि को लोगों ने बहुत पसंद किया-अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, उसका शतांश भी मुझमें नहीं।...’ इसी टिप्पणी में द्विवेदीजी ने चिंतामणि घोष के बारे में लिखा था, ‘मैं सेवा का अर्थ अच्छी तरह जानता हूं। अतएव मैं कह सकता हूं कि मैंने सेवा भाव से प्रेरित होकर सरस्वती का संपादन नहीं किया। हिंदी की सेवा मैंने तो नहीं, चिंतामणि घोष ने अवश्य की है। जन्मभूमि उनकी बंगदेश है और मातृभाषा बांग्ला। यदि उनमें उदारता की मात्रा इतनी अधिक न होती तो सरस्वती का विसर्जन कभी का हो गया होता।’ ‘सरस्वती’ 1975 तक निकलती रही। दिसंबर 2013 में इलाहाबाद में चिंतामणि घोष की प्रतिमा लगाकर देश ने उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की। इलाहाबाद में घोष बाबू की प्रतिमा का अनावरण राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने किया।

इस तरह हम पाते हैं कि हिंदी पत्रकारिता को आदि काल से ही बांग्लाभाषी सींचते आ रहे हैं। निकट अतीत में ‘माया’ जैसी राष्ट्रीय पत्रिका इलाहाबाद के जिस मित्र प्रकाशन समूह से छपती थी, उसके कर्ता-धर्ता बांग्लाभाषी क्षितिंद्र मोहन मित्र ही थे। ‘रविवार’ जैसी पत्रिका आनंद बाजार पत्रिका समूह से ही निकली थी। ‘संडे इंडियन’ तथा ‘राष्ट्रीय सहारा’ निकालनेवाले भी मूलतः बांग्लाभाषी हैं। परितोष चक्रवर्ती और कल्लोल चक्रवर्ती से लेकर सुमन चट्टोपाध्याय तक दर्जनों बांग्लाभाषी हिंदी पत्रकारिता को नई धार देने में जुटे हुए हैं।

संदर्भ

1. भारतीय पत्रकारिता: नींव के पत्थर, डा. मंगला अनुजा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण-1996, पृष्ठ-15
2. वही, पृष्ठ-16
3. वही, पृष्ठ-72
4. 1857, नवजागरण और भारतीय भाषाएं, सं. शंभुनाथ. प्रकाशक-केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, संस्करण-2008, पृष्ठ-228
5. हिंदी साहित्य: बंगीय भूमिका, सं.- डा. कृष्णबिहारी मिश्र व राम व्यास पांडेय, मणिमय, कोलकाता, संस्करण-1983, पृष्ठ-102
6. हिंदी पत्रकारिता: जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण-भूमि, कृष्ण बिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-2004, पृष्ठ-321
7. हिंदी पत्रकारिता: जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण-भूमि, कृष्ण बिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-2004, पृष्ठ-331
8. पहला संपादकीय, विजय दत्त श्रीधर, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृष्ठ-70
9. हिंदी साहित्य: बंगीय भूमिका, सं.- डा. कृष्णबिहारी मिश्र व राम व्यास पांडेय, मणिमय, कोलकाता, संस्करण-1983, पृष्ठ-397
10. भारतीय पत्रकारिता: नींव के पत्थर, डा. मंगला अनुजा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण-1996, पृष्ठ-215-216

सूचना

बहुवचन का अगला अंक कविता विशेषांक है।

संभावित लेखक-

नंदकिशोर आचार्य, प्रभात त्रिपाठी, कुमार अंबुज, आशुतोष भारद्वाज, तेजी ग्रोवर, प्रयाग शुक्ल, गीत चतुर्वेदी, रुस्तम सिंह, आलोक भल्ला, सुनीता गुप्ता, राधावल्लभ त्रिपाठी, गगन गिल, प्रियदर्शन, ध्रुव शुक्ल, उदयन वाजपेयी, राजेश जोशी, अनामिका, सुधीर रंजन सिंह, अपूर्वानंद, मुकुंद लाठ, रमेश चंद्र शाह।

अंक के रचनाकार

1. गिरीश मिश्र, एम-112, साकेत, नई दिल्ली-110017, मो.-9811265654
2. प्रियंवद, 15/269, सिविल लाइंस, कानपुर-208001 (उ.प्र.), मो.-9839215236
3. मनोज कुमार राय, अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग, म.गां.अं.हिं.वि., गांधी हिल्स, वर्धा-442005, मो.-9404822608
4. ए. अरविंदाक्षन, 279/सांद्रम, मावेलिपुरम, काक्कनाड, कोचीन-682030 (केरल), मो.-9895018088
5. गोपेश्वर सिंह, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नार्थ कैंपस, दिल्ली-110007
6. भगवान दास मोरवाल, डब्ल्यूजेड 745/जी, दादा देव रोड, निकट बाटा चौक, पालम, नई दिल्ली-110045, मो.-9971817173
7. बालकृष्ण काबरा, 'एतेश', 11 सूर्या अपार्टमेंट, रिंग रोड, राणा प्रताप नगर, नागपुर-440022 (महाराष्ट्र), मो.-9422811671
8. अशोक गुप्ता, 305, हिमालय टावर, अहिंसा खंड-2, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ.प्र.), मो.-98711878775
9. श्याम कश्यप, बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा इंक्लेव, दिल्ली-110096, मो.-9811250940
10. कृष्ण प्रताप सिंह, 5/18/35, बछड़ा सुल्तानपुर, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.), मो.-9838950948
11. पवन करण, सावित्री, आई-10, साइट नं.-1, सिटी सेंटर, ग्वालियर-474002 (म.प्र.) मो.-9425109430
12. शैलेय, डी-2-1/14, मेट्रोपोलिस सिटी, रूद्रपुर-263153 (उत्तराखंड), मो.-9760971225
13. रमेश प्रजापति, डी-8, डीडीए कॉलोनी न्यू जाफराबाद, शाहदरा, दिल्ली-110032, मो.-9891592625
14. प्रकाश मनु, 545, सेक्टर-29, फरीदाबाद-121008 (हरियाणा), मो.-9810602327
15. रूप सिंह चंदेल, बी-3/230 सदातपुर विस्तार, दिल्ली-110094, मो.-9810830957
16. कृष्ण कुमार सिंह, साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं.हिं.वि., गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), मो.-9404354261
17. विजय मोहन सिंह, 77, अनुपम हाउसिंग सोसाइटी, वसुंधरा इंक्लेव, दिल्ली-110096
18. अमिताभ राय, ए-305, प्रियदर्शिनी, 17 आई.पी. एक्सटेंशन, पटपड़गंज, दिल्ली-110092, मो.-9582502101
19. जसविंदर कौर बिंद्रा, 35 मस्जिद रोड, जंगपुरा भोगल, नई दिल्ली-110014, मो.-9868182835
20. कृपाशंकर चौबे, क्षेत्रीय केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि, ऐकतान आईए-290, सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-97, मो.-9836219078